प्रस्तावना

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।

इस दुःखमय संसार में रहते हुए परम सुख की प्राप्ति ही मानवमात्र का प्रयोजन है। "संसार दुःखरूप है" यह बात सभी दार्शनिक एकमत से स्वीकार करते हैं—

सर्वं दुःखमयं जगत्—शंकराचार्य।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ । —सांख्यकारिका (१)

सर्वं दुःखं दुःखम्—प्रथम आर्यसत्य, गौतमबुद्ध

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

—योगसूत्र (२.१५)

इस दुःखमय संसार में रहकर सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनसे दुःख ही प्राप्त होता है सुख नहीं—

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ।।

—श्रीमद्भागवत-३.५.२

अतः सांसारिक सुख सर्वथा हेय है तथा आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक परम सुख ही ग्राह्य है यह बात भी सर्वदर्शनों में ऐकमत्येन स्वीकार की गयी है।

प्राचीन काल में 'दर्शन' शब्द के स्थान पर उसी अर्थ में 'शास्त्र' का प्रयोग होता था। जैसे—व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, योगशास्त्र आदि। पार्थसारथिमिश्र-रचित शास्त्रदीपिका के प्रारम्भ में ही मीमांसादर्शन के लिए शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है—

न्यायाभासमतच्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदीपिकाम् ।
कुमारिलमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम् ।।

—शा.दी. मंगलाचरण, ३

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'योगशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया गया है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे..... प्रथमोध्याय: ।।

आदि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य के प्रारम्भ में ही कहा है— वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम् ।

अर्वाचीनकाल में शास्त्र शब्द के स्थान पर दर्शन शब्द भी प्रयुक्त होने लगा। 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' जो परमतत्त्व का दर्शन करावे, वह दर्शन है। मनु ने ''ब्रह्म-साक्षात्कार'' अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग किया है—

सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।। म.स्मृ. ६.७४

आचार्य माधव ने 'सर्वदर्शनसङ्ग्रह' यह नामकरण शास्त्रार्थक दर्शन शब्द को लेकर ही किया है या यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने अनेक मतों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग किया है।

जिस प्रकार भारतीय परम्परा में दर्शन विचारधारा प्रचलित है, उसी प्रकार पाश्चात्य परम्परा में भी अनेक दार्शनिक हुए हैं जैसे—अरस्तू, स्पिनोजा, देकार्त्त, लाइबनित्ज, लॉक, प्लेटो, हीगेल, बर्कले, ह्यूम, काण्ट इत्यादि। भारतीयदर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन की विचारधारा में अन्तर यह है कि जहाँ पाश्चात्य दर्शन में मोक्ष तथा धर्म को बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया है, वहीं भारतीय दर्शन में इन दोनों को महान् आदर प्रदान किया गया है। पाश्चात्य दर्शन की प्रवृत्ति केवल बुद्धि विलास के लिए है, लेकिन भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति की प्रवृत्ति परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए होती है।

सामान्यतया भारतीय दर्शन के दो भेद हैं—

१. **नास्तिकवर्ग**—चार्वाक, बौद्ध, जैन

२. **आस्तिकवर्ग**—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त (अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत)

वेदप्रामाण्य मानने वाले दर्शन 'आस्तिकवर्ग' में सम्मिलित हैं तथा वेदप्रामाण्य को न मानने वाले दर्शन 'नास्तिकवर्ग' में आते हैं—नास्तिको वेदनिन्दकः (मनु स्मृति २.११)

उपर्युक्त आस्तिकवर्ग तथा नास्तिकवर्ग का विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया

है। इनके अतिरिक्त माधवाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ अन्य दर्शनों की विचारधारा का भी प्रतिपादन किया है। जैसे—

१. **पूर्णप्रज्ञ दर्शन (द्वैत वेदान्त)**
२. **नकुलीश पाशुपत दर्शन**
३. **शैव दर्शन**
४. **प्रत्यभिज्ञा दर्शन (काश्मीरी शैव दर्शन)**
५. **रसेश्वर दर्शन (आयुर्वेद-दर्शन)**
६. **पाणिनि दर्शन (व्याकरण दर्शन)**

वेदान्त दर्शन के भी दस प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं, जिसमें प्रथम दो का ही संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थ "सर्वदर्शनसंग्रह" में किया गया है—

१. **अद्वैत–शंकर**
२. **विशिष्टाद्वैत–रामानुज**
३. **द्वैताद्वैत–निम्बार्क**
४. **द्वैत–मध्व**
५. **भेदाभेद–भास्कर**
६. **शैवविशिष्टाद्वैत–श्रीकण्ठ**
७. **वीरशैवविशिष्टाद्वैत–श्रीपति**
८. **शुद्धाद्वैत–वल्लभ**
९. **अविभागाद्वैत–विज्ञानभिक्षु**
१०. **अचिन्त्यभेदाभेद–बलदेव**

इन दर्शनों की विचार परम्परा के विकासक्रम के अनुसार इन सभी १६ दर्शनों का समावेश इस संग्रह में किया गया है। चार्वाक दर्शन विचार करने की प्रारम्भिक अवस्था है तथा विचारसरणि की चरम अवस्था अद्वैत वेदान्त है। माधवाचार्य स्वयं अद्वैतवेदान्ती ही थे। अतः अपने संग्रह का अन्तिम दर्शन उन्होंने अद्वैत वेदान्त रखा है।

भारतीय दर्शन की इन समस्त परम्पराओं में क्रमशः जीव, जगत्, ईश्वर, मोक्ष, पदार्थ-मीमांसा आदि विषयों पर विचार किया गया है।

जीव (आत्मा)—चार्वाक मत में जीव तत्त्व या आत्मतत्त्व कोई पृथक् वस्तु नहीं है बल्कि चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) ही शरीर में विद्यमान हैं। उन चारों से पृथक् कोई आत्म तत्त्व नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को विज्ञान रूप कहते हैं। वेदान्ती भी आत्मा को ज्ञानरूप कहते हैं तो नैयायिक ज्ञान के अधिकरण को आत्मा बतलाते हैं। जैन मत में जीव तथा अजीव—ये दो तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। उनके मत में जीव शरीराकार परिमित है। जितना बड़ा शरीर उतना बड़ा आत्मा, किन्तु वह शरीर के समान दृश्य नहीं है। सांख्य-योग मत के अनुसार 'आत्मा' की संज्ञा पुरुष है। वह चैतन्यरूप है। मीमांसकों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है। इस प्रकार "आत्मतत्त्व शरीर से भिन्न है" यह मत चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक एकमत से स्वीकार करते हैं।

जगत्—चार्वाक दर्शन की पूर्ण आस्था संसार या जगत् में है। यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। न्याय-वैशषिक-मतानुसार दो परमाणुओं के संयोग से द्‌यणुक की उत्पत्ति होती है तथा तीन द्‌यणुक मिलकर एक त्र्यणुक बनाते हैं। इन त्र्यणुकों से ही सारे जगत् का निर्माण होता है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्च महाभूतों के क्रम से जगत् की सृष्टि होती है। अद्वैत वेदान्त मत में तो ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या स्वीकार किया गया है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

जगत् क़ी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त में विवर्तवाद स्वीकार किया गया है तथा सांख्य-योग मत में परिणामवाद। अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिबिम्बवाद स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

ईश्वर—ईश्वर की सत्ता किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों में स्वीकार की गयी है। चार्वाक दर्शन के अनुसार राजा ही ईश्वर है। राजा के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है।

बौद्ध दर्शनानुसार बुद्ध ही ईश्वर हैं तो जैनमत में अर्हत् ईश्वर है। न्यायवैशेषिक मतानुसार आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। परमात्मा ही ईश्वर है वह जगत् का कर्ता है। मीमांसक इन्द्रादि देवताओं तथा तदतिरिक्त भी ईश्वर की सत्ता मानते हैं। वेदान्ती मायातीत निर्गुण ब्रह्म तथा मायायुक्त सगुण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। वैयाकरण स्फोटरूप शब्द ब्रह्म स्वीकार करते हैं। सांख्यमतानुसार पुरुष ही ईश्वर है तथा

योगमतानुसार पुरुषातिरिक्त भी ईश्वर है। कुछ लोगों के अनुसार सांख्य मत में भी ईश्वर की सत्ता मानी गयी है। रामानुज ने कुछ विशेषणों से युक्त ईश्वर स्वीकार किया है। पाशुपत मतानुसार शिव ही ईश्वर है, उन्हें ही पशुपति कहा जाता है।

मोक्ष—मोक्ष को परमसुख के रूप में सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं लेकिन इसके मानने के स्वरूप में सबमें किञ्चित् भिन्नता है। चार्वाकों के अनुसार शरीर का नाश ही मोक्ष है। बौद्धों के अनुसार निर्मल ज्ञान की उत्पत्ति ही मोक्ष है तो जैनमतानुसार ऊर्ध्वगामी कर्मों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति होती है। सांख्ययोगमतानुसार पुरुष (आत्मा) को जब विवेकज्ञान उत्पन होता है अर्थात् "मैं प्रकृति से भिन्न हूँ" यह ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष का तात्पर्य है पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति। न्याय वैशेषिक मतानुसार षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष या निःश्रेयस की अधिगति होती है। मीमांसकों के अनुसार प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है। यज्ञादि से होने वाला परमसुख स्वर्गादिरूप होता है। कहा गया है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष रूप कहते हैं। रामानुज मतानुसार ईश्वर के गुणों की प्राप्ति ही मोक्ष है। पाशुपत मतानुसार पशुपति शिव की प्राप्ति ही मोक्ष है तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार पूर्ण आत्मा की प्राप्ति मोक्ष है। वैयाकरण कहते हैं कि परा वाणी का दर्शन करना ही मोक्ष हैं।

पदार्थमीमांसा—चार्वाक दर्शन के अनुसार चार ही तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु। जैनों के अनुसार ७ तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। शून्यवादी बौद्ध शून्य को, विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को स्वीकार करते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार १६ पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेलाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। वैशेषिक ७ पदार्थ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

सांख्य के अनुसार २५ पदार्थ हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, ११ इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत। योगमत में ईश्वर को मिलाकर २६ तत्त्व माने

गये हैं। मीमांसकों में भाट्ट मतानुसार ५ पदार्थ हैं—द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया, अभाव। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार ८ पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, संख्या, सादृश्य तथा समवाय। अद्वैत वेदान्तानुसार ब्रह्म ही एक पदार्थ है। रामानुज के अनुसार दो पदार्थ हैं—प्रमाण तथा प्रमेय। अन्य सभी पदार्थ इन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। माध्वों के अनुसार १० पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार ५ तत्त्व हैं—कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त। शैवमतानुसार तीन तत्त्व हैं—पशुपति तथा पाश।

प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में इन सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

माधवाचार्य—सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधवाचार्य हैं। माधवाचार्य नामक तीन विद्वान् पूर्व में हुए हैं।

१. माधवाचार्य और सायणाचार्य दो भाई थे। इनके पिता का नाम मायण तथा माता का नाम श्रीमती था। सन् १३३५ ई. में माधवाचार्य के आदेश से हरिहर प्रथम ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। उसके बाद बुक्क महीपति ने १३४४ ई. से १३७९ ई. तक विजयनगर पर राज्य किया। बुक्क राजा ने माधवाचार्य को वेद का भाष्य लिखने का आदेश दिया और माधवाचार्य ने अपने भाई सायण को इस कार्य में प्रवृत्त किया। सायण ने सभी वेदों के भाष्य, सुभाषितसुधानिधि, प्रायश्चित सुधानिधि, अलंकार सुधानिधि, धातुवृत्ति, पुरुषार्थ सुधानिधि, आयुर्वेदसुधानिधि, यज्ञतंत्र सुधानिधि आदि ग्रन्थों की रचना की। माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला विस्तर तथा पराशर स्मृति की व्याख्या लिखी। माधवाचार्य ने ही बाद में संन्यास ग्रहण किया। वे विद्यारण्य नाम से शृंगेरीमठ के शंकराचार्य बन गये। उन्होंने माधवीयधातुवृत्ति, पञ्चदशी, वैयासकि न्यायमाला, विवरण-प्रमेय संग्रह आदि ग्रन्थ रचे। सायण-माधव के तीन गुरु थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ।

२. दूसरे माधवाचार्य राजा बुक्क के एक अन्य मंत्री थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें तथा पूर्व के माधवाचार्य को एक ही माना है लेकिन ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ये माधवाचार्य एक वीर योद्धा थे तथा बुक्क राजा ने उन्हें जयन्तीपुर का शासक भी बनाया था। इनकी मृत्यु सन् १३९१ ई. में हुई थी।

३. तीसरे माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह के कर्ता थे। ये सायण के भाई माधव से भिन्न थे। इन्होंने अपने को सायण वंश में उत्पन्न बतलाया है। (सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभः) अतः यह प्रतीत होता है कि ये पूर्वोक्त माधवाचार्य से भिन्न हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि सर्वदर्शन संग्रह के कर्ता माधवाचार्य पूर्वोक्त माधवाचार्य (सायण के भाई) से अभिन्न हैं। इनके वंश का नाम ही सायण है। अतः "सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभ" यह विशेषण ठीक ही है।

किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है। माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला के प्रारम्भिक मंगलाचरण के पूर्व में यह बतलाया है कि "वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे। यं नत्वा कृतकृत्याः स्युः तं नमानि गजाननम्॥" यह श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थप्रणयन का चिह्नरूप है—"स्वमुद्रारूपमनेकार्थगर्भम्...श्लोकं पठति"। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि माधवाचार्य ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में यही मंगलाचरण किया है लेकिन सर्वदर्शनसंग्रह के प्रारम्भ में यह मंगलाचरण नहीं है। अतः, सर्वदर्शनसंग्रह सायण के भाई माधव की रचना नहीं है।

इन तीनों माधवाचार्यों में द्वितीय माधवाचार्य तो निश्चित ही अन्य दोनों से भिन्न थे परन्तु प्रथम तथा तृतीय माधवाचार्य भिन्नता में विद्वान् एकमत नहीं हैं। तथापि अधिकांशतः यही प्रतीत होता है कि ये दोनों माधवाचार्य भी भिन्न-भिन्न ही थे।

सर्वदर्शनसंग्रह का मूलग्रन्थ तो अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है, लेकिन सर्वदर्शनसंग्रह की व्याख्याओं में पं. वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर की संस्कृत व्याख्या अत्यधिक प्रामाणिक तथा पाण्डित्यपूर्ण है। भारतीय विद्या प्रकाशन से प्रकाशित सर्वदर्शनसङ्ग्रह (मूलमात्र) भी प्रामाणिक तथा शुद्ध है। हिन्दी व्याख्याओं में डॉ. उमाशंकर शर्मा "ऋषि" की हिन्दी व्याख्या उपलब्ध है। इस व्याख्या में कहीं-कहीं प्रमादवश त्रुटियाँ रह गयी हैं। जैसे—पृष्ठ १८ पंक्ति ८ में लिखा है—"श्रावणत्व (उपाधि) अपने साध्य (अनित्यत्व) को व्याप्त कर लेता है। यह बात कथमपि सिद्धान्तानुकूल नहीं है। आगे पंक्ति ११-१२ में टीकाकार ने स्वयं ही इसका खण्डन भी किया है। इसी प्रकार पृष्ठ १० पंक्ति १० तथा पृष्ठ १८ पंक्ति २ में भी कुछ प्रमाद हो गया है।

प्रस्तुत व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि यह एक सर्वांगपूर्ण व्याख्या बन सके तथापि यदि प्रमादवश कोई कमी रह गयी हो तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे।

अन्त में अपने कै.वा. प्रात:स्मरणीय पिताजी **डॉ. जनार्दन गंगाधर रटाटे** तथा **माताजी श्रीमती लक्ष्मी देवी** को प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए **पत्नी सौ. मृदुला रटाटे कन्या कु. आकृति** व **पुत्र चि. उत्कर्ष** को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस कार्य में प्रेरणा व उत्साह प्रदान किया। **भारतीय विद्या प्रकाशन** के **श्री राकेश जैन** भी धन्यवाद के परम भागी हैं, जिन्होंने उत्साहवर्धन, सतत प्रेरणा तथा सहयोग प्रदान करते हुए यह व्याख्या प्रकाशित की है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।

कार्तिक शु. १५ **माधव जनार्दन रटाटे**
सं. २०६५

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

सर्वदर्शनसंग्रहः

सुबोधिनीव्याख्योपेतः

प्रणम्य सद्गुरुन् भक्त्या पितरं श्रीजनार्दनम् ।
कुर्वे सुबोधिनीं व्याख्यां सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ।।

भारतीय परम्परा के अनुसार तथा ''मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते'' इस वचन के अनुसार आचार्य सायण-माधव ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण (शिवजी को नमन) किया है।

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम् ।
येनैव जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्त्तृकम् ।।१।।

अनुवाद—नित्य ज्ञान के आश्रय, मोक्ष के भण्डार भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ। जिनसे पृथ्वी आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए है, उनके ही कारण यह सारा संसार सकर्तृक (कर्ता से युक्त) कहा जाता है।

विशेष—इस प्रथम मङ्गलाचारण श्लोक में ग्रन्थकार ने न्यायमत के अनुसार ईश्वर को जगत् का कर्ता माना है। ईश्वर जगत् का कारण है तथा जगत् उसका कार्य। इसी कारण यह जगत् सकर्तृक है। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में भी इसी प्रकार मङ्गलाचरण में 'संसारमहीरु- हस्य बीजाय' कहकर जगत् की सकर्तृकता सिद्ध की गयी है। परमात्मा ज्ञान का आश्रय है-यह मत भी न्यायानुकूल है,. किन्तु ईश्वर को निःश्रेयस निधि कहकर मोक्ष रूप कहा गया है। ईश्वर को मोक्षरूप तो वेदान्ती भी कहते हैं। क्योंकि उनके मत में ईश्वर ज्ञान रूप है और ब्रह्म ज्ञान ही तो मुक्ति है। इस प्रकार उक्त मङ्गलाचरण में न्याय-वेदान्त के सिद्धान्तों का सङ्केत देकर सर्वदर्शनों के प्रतिपाद्य विषय ज्ञान, मोक्ष, ईश्वर, जगत्कर्तृत्व, पृथ्वी आदि द्रव्य इत्यादि का भी समावेश किया गया है। अतः,यह मङ्गलाचरण प्रस्तुत ग्रन्थ के भी अनुकूल है।

अब ग्रन्थकार अपने गुरु को प्रणाम करते हैं—

पारं गतं सकलदर्शनसागराणा-
मात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकम् ।
श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं
सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ।।२।।

अनुवाद—सर्व-दर्शन रूपी समूहों के पार गये हुए, अपने अनुकूल कार्यों का

आचरण करने से सभी लोगों को कृतार्थ करने वाले, श्री शार्ङ्गपाणि के पुत्र तथा समस्त आगमों के ज्ञाता सर्वज्ञ विष्णु नामक गुरु का मैं प्रतिदिन आश्रय लेता हूँ।

विशेष—आगम का अर्थ है तन्त्रशास्त्र। किन्तु यहाँ आगम शब्द से समस्त शास्त्रों का ग्रहण होता है।

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ।।३।।

अनुवाद—श्रीमान् सायण के वंश रूपी क्षीर सागर में कौस्तुभ मणि के समान तथा महातेजस्वी माधवाचार्य के द्वारा सर्वदर्शनसङ्ग्रह लिखा जा रहा है।

विशेष—माधवाचार्य के भाई का नाम सायण था तथा साथ ही साथ उनके सम्पूर्ण वंश का नाम भी सायण था।

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्य शास्त्राण्यसौ ,
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यास्यत्सतां प्रीतये ।
दूरोत्सारितमत्सरेण मनसा शृण्वन्तु तत्सज्जना ,
माल्यं कस्य विचित्रपुष्परचितं प्रीत्यै न संजायते? ।।४।।

अनुवाद—पूर्वाचार्यों के अत्यन्त दुस्तर शास्त्रों का अच्छी तरह से अध्ययन करके इस श्रीमान सायण वंशी तथा सामर्थ्यशाली माधव ने सज्जनों की प्रसन्नता के लिए उन शास्त्रों को अपने में स्थिर कर दिया। सज्जन लोग ईर्ष्या छोड़कर मन से उन शास्त्रों को सुनें, क्योंकि विविध पुष्पों से बनी माला किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं होती अर्थात् सभी को प्रसन्न करने के लिए होती है।

अध्याय-१
चार्वाक-दर्शनम्

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाणं,
भूतार्थवादमथ यो नितरां निविष्टः ।
वेदादिनिन्दनपरः सुखमेव धत्ते,
सोऽयं बृहस्पतिमुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ।।-ऋषिः

१. चार्वाक दर्शन का नामकरण

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते? बृहस्पति-मतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात्। दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्–

१. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः? ।।

इति लोकगाथाम् अनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम्।।

अनुवाद—(मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में ईश्वर को मुक्ति का भण्डार (कहा गया है) किन्तु, परमेश्वर को मुक्ति प्रदान करने वाला कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि बृहस्पति के मत को मानने वाले, नास्तिकों में शिरोमणि चार्वाक ने उसको (परमेश्वर को) दूर उखाड़ फेंका है। (अर्थात् ईश्वर का खण्डन किया है।) चार्वाक के मत का खण्डन करना अत्यन्त कठिन है। प्रायः सभी प्राणी लोग—

जब तक जीवन है, सुख से जीवित रहना चाहिये, मृत्यु से अगोचर अर्थात् अविषय कोई नहीं (अर्थात् सभी की मृत्यु होती ही है)। शरीर के अग्नि में भस्म हो जाने पर उसका पुनः आगमन कहाँ होता है?

इस लोक गाथा का अनुसरण करते हुए, नीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र के अनुसार क्रमशः अर्थ तथा काम को ही पुरुषार्थ मानते हुए, पारलौकिक पदार्थ को स्वीकार न करते हुए चार्वाक मत को स्वीकार करते हुए ही दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिए उस चार्वाक मत का दूसरा नाम-'लोकायत' यह सार्थक ही है।

विशेष—लोक में=संसार में, आयत=फैला हुआ जो मत है वही लोकायत है। वस्तुतः चार्वाक का सिद्धान्त भारतीय दर्शन में विचार करने की शृंखला का प्रारम्भिक स्वरूप है। विचार के प्रथम स्तर पर यह मत सभी लोग मानते हैं। इसीलिए इसे लोकायत

कहा जाता हैं 'चार्वाक' का दूसरा अर्थ है चारु वाक् यस्य सः (जिसकी वाणी चारु=सुन्दर, मीठी है। ''लोकायत'' शब्द पाणिनि के उक्थगण के अन्तर्गत आना है। 'क्रतूक्थादिसूत्रान्तात्ठक्' (४.२.६०) सूत्र से लोकायत शब्द से ठक् (इक्) होकर 'लोकायतिक' शब्द बनता है। षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न का कहना है कि जो पुण्य-पाप आदि परोक्ष वस्तुओं का चर्वण (विनाश) कर देता है उसे ही चार्वाक कहते हैं। चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति थें कहा जाता है कि एक बार देवगुरु बृहस्पति ने 'दैत्यों' को मोहित करने के लिए उन्हें चार्वाक मत का उपदेश दिया था। चार्वाक मत को नास्तिक शिरोमणि कहा जाता है। भारतीय दर्शन के दो विभाग हैं—

१. नास्तिक (वेद का न मानने वाले)—चार्वाक, जैन, बौद्ध
२. आस्तिक (वेद को मानने वाले)—सांख्य, योग, न्याय,
वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण दर्शन, आयुर्वेद, शैवदर्शन।

चार्वाक मत में ईश्वर, वेद, परलोक को कोई स्थान नहीं है। यह मत 'खाओ पीयो, मौज करो' 'सिद्धान्त को मानता है। ये लोग दो ही पुरुषार्थ मानते हैं—अर्थ तथा काम। धर्म तथा मोक्ष पुरुषार्थ (पुरुष का उद्देश्य) नहीं है।

२. *तत्त्व-मीमांसा*

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः–'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृह० उप० २।४।१२) **तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्।।**

अनुवाद—उन (चार्वाक) के मत में पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) चार महाभूत ही तत्त्व हैं। जिस प्रकार किण्व आदि मादक द्रव्यों से (अर्थात् उनको एकत्रित करने पर) मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जब पृथिवी आदि चारों महाभूत देहाकार रूप में बदल जाते हैं तब उनमें चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है तथा उन महाभूतों के पृथक्-पृथक् होने पर स्वयं ही (चैतन्य शक्ति) नष्ट हो जाती है। जैसा कि कहा गया है-''विज्ञान से परिपूर्ण चैतन्य इन (चारों) महाभूतों से निकलकर पुनः उन्हीं में प्रवेश करता है, मृत्यु के बाद उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती' (बृह० उप० २, ४, १२)। इसलिये चैतन्य से विशिष्ट देह ही आत्मा है। चैतन्यविशिष्ट देह से भिन्न आत्मा को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के कारण अनुमानादि प्रमाणों को न मानने से आत्मा को देहातिरिक्त मानने में कोई प्रामाण्य नहीं है।

विशेष—किण्व का तात्पर्य है वह पदार्थ जिससे शराब बनायी जाती हैं। पेड़ से निकले रस विशेष को किण्व कहा जाता है जिससे शराब बनती है—'सुरायाः प्रकृतिभूतो वृक्षविशेषनिर्यासः' (अभ्यंकर) मदिरा के निर्माण में खमीर उठाने वाले बीज या औषधि को किण्व कहते हैं—आप्टे। मनुस्मृति (८, ३२६) में भी किण्व शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार जब किण्वादि द्रव्यों को परस्पर मिलाया जाता है, तो उनमें मादक शक्ति स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है या जिस प्रकार पान में पत्ता, कत्था, सुपारी, चूना आदि मिलाने पर पान की लालिमा स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार चारों महाभूतों को मिलाने पर चैतन्य शक्ति स्वयं ही उत्पन्न होती है और उन महाभूतों के नष्ट होने पर (मरने पर) वह चैतन्य शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

चार्वाकों का कहना है कि इस चैतन्य शक्ति से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक लोग चार महाभूत ही मानते हैं। वे आकाश को महाभूत नहीं मानते।

उपनिषद् के 'विज्ञानघन' का अर्थ वहाँ ज्ञान स्वरूप आत्मा है लेकिन चार्वाकों ने उसका अर्थ "विज्ञान युक्त चैतन्य" किया है। वस्तुतः इस उपनिषद् वाक्य को शांकर वेदान्त में मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए उपस्थापित किया गया है। मुक्ति के बाद जीवात्मा की कोई संज्ञा नहीं रहती है। फिर भी चार्वाकों ने इस वाक्य को अपने प्रयोजन सिद्धि के लिए उद्धृत कर दिया है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं।

३. सुख की प्राप्ति-दुःख और सुख का मिश्रण

अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न च 'अस्य दुःखसम्भिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति' इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण, सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा-मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयात् नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्।।

अनुवाद—स्त्री आदि के आलिंगन आदि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। "यह आलिंगनजन्य सुख दुःखमिश्रित होने के कारण पुरुषार्थ नहीं है"—ऐसा नहीं मानना चाहिये। अनिवार्यतः प्राप्त दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग करना चाहिये। जिस प्रकार कि मछली को चाहने वाला व्यक्ति छिलके तथा कांटों के साथ मछली को पकड़ता है, लेकिन उसे जितना लेना चाहिये, उतना ही लेकर निकल जाता है या जिस प्रकार अनाज को चाहने वाला व्यक्ति पुआल (छिलका) के साथ अनाज को ले आता है लेकिन वह भी जितना लेना चाहिये, उतना ही लेकर निकल जाता है। इसलिए दुःख के डर से अनुकूल अनूभूति वाले सुख को त्यागना उचित नहीं है।

विशेष—चार्वाक केवल काम तथा अर्थ को ही पुरुषार्थ मानते हैं। उनका मानना है कि सांसारिक सुख भी दुःख से मिश्रित जरूर है, लेकिन दुःख के भय से उस सांसारिक सुख को छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

न हि 'मृगाः सन्ति' इति शालयो नोप्यन्ते। न हि 'भिक्षुकाः सन्ति' इति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद् भीरुः दृष्टं सुखं त्यजेत्, तर्हि स पशुवत् मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्—

२. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् ,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ।।इति।

अनुवाद—ऐसी बात नहीं है कि 'मृग हैं' इसलिए धान ही न रोपा जाए। या फिर यह भी नहीं है कि 'भिक्षुक हैं' इसलिए (चुल्हे पर) बर्तन ही न चढ़ाया जाए। यदि कोई डरपोक व्यक्ति दृष्ट सुख को त्याग देगा, तो वह पशु के समान मूर्ख होगा। जैसा कि कहा गया है—

यह मूर्खों का विचार है कि मनुष्य को विषयों का सङ्ग होने से उत्पन्न सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यह सुख दुःख से मिश्रित है। अरे! अपना हित चाहने वाले कौन व्यक्ति सफेद और अच्छे चावल से युक्त धान को इसलिए त्याग देता है, क्योंकि वह छिलके तथा कण से युक्त है।

विशेष—विषय जन्य सुख को आस्तिक दर्शनों में दुःखदायी कहा गया है। योगदर्शन में यह कहा गया है कि सांसारिक सुख परिणामतः दुःख ही देता है। ("परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"—योगसूत्र २.१५)

४. यज्ञों और वेदों की निस्सारता

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्ते? इति चेत्, तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषैः दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं-कर्मकाण्ड-प्रामाण्यवादिभिः ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञानकाण्ड-प्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन, त्रय्या धूर्तप्रलाप-मात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्रप्रयोज-नत्वात्। तथा च आभाणकः—

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।। इति।

अनुवाद—फिर पारलौकिक सुख न होने से बहुत धन खर्च करके तथा शरीर के परिश्रम से साध्य अग्निहोत्र आदि यागों में विद्यावृद्ध लोग कैसे प्रवृत्त होते हैं? ऐसा यदि कहें तो यह भी प्रमाणकोटि में प्रवेश करने के योग्य नहीं है। क्योंकि झूठ, विरोध तथा पुनरुक्ति दोषों से दूषित होने के कारण अपने को वैदिक समझने वाले धूर्त बगुलों ने आपस में ही—कर्मकाण्ड को प्रमाणमानने वालों ने ज्ञानकाण्ड का तथा ज्ञानकाण्ड को प्रमाण मानने वालों ने कर्मकाण्ड का खण्डन किया है, तीनों वेद धूर्तों का प्रलाप (बकवास) मात्र हैं तथा अग्निहोत्रादि याग केवलजीविका का साधनमात्र हैं। जैसा कि आभाणक (लोकोक्ति) है—

अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड धारण करना, भस्म लगाना—यह सब बुद्धि तथा बल से रहित लोगों की जीविका है—ऐसा बृहस्पति का मत है।

विशेष—पूर्वमीमांसादर्शन के अनुसार "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्याकारक वेदवाक्य पुरुष को स्वर्ग प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र याग में प्रवृत्त कराता है। लेकिन यदि 'स्वर्ग' है ही नहीं, तो कोई व्यक्ति इतना कठिन अग्निहोत्र याग क्यों करेगा? इसका उत्तर चार्वाक देते हैं कि स्वर्गादि नामक कोई सुख है ही नहीं। केवल अपनी आजीविका चलाने के लिए लोग यज्ञ-याग कराते हैं। मनुस्मृति (१.८८) में ब्राह्मणों की आजीविका के तीन साधन बतलाये गये हैं—याजन, पाठन, प्रतिग्रह। मनुस्मृति का यह मत ही चार्वाकों के लिए अनुकूल है। चार्वाकों का कहना है कि वेद वाक्य केवल धूर्तों की बकवाद है। वेदों में झूठ (अनृत), व्याघात (परस्पर विरुद्ध वचन) तथा पुनरुक्ति दोष हैं।

१. अनृत दोष—जैसे—ओषधे त्रायस्वैनम् (तै०सं० १.२.१.१) अर्थात् हे औषधि! रक्षा करो, शृणोत ग्रावाणः (तै०सं० १.३.१३.१) अर्थात् हे पत्थरों! सुनो तथा स्वधिते मैनं हिंसीः (तै०सं० १.२.१.१) अर्थात् हे छुरे! इसे मत मारो। इन सभी मन्त्रों में अचेतन वस्तुओं को सम्बोधन होने से ये सभी मन्त्र झूठे सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।" (ऋ०सं० ४.५८.३) यहाँ जिस प्रकार के पशु का वर्णन है, वैसा कोई पशु इस संसार में सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार उपनिषद् भाग में भी अनृत दिखलाई पड़ता है। अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०उ० ३.२), प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०उ० ३.३) में अन्न को तथा प्राण को ब्रह्म कहा गया है, जो कि सत्य नहीं है।

२. व्याघात दोष—वेदवचन परस्पर विरुद्ध भी हैं। जैसे—"एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे (तै०सं० १.८.६.१)" में कहा गया है कि रुद्र एक ही है लेकिन "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम् (तै०सं० ४.५.११.५)" में कहा गया कि रुद्र हजारों हैं। उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति—ये दोनों वचन भी परस्पर विरुद्ध हैं। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ०सं० १.८९.१०) में अदिति को द्यौ तथा अन्तरिक्ष दोनों कहा गया है—यह बात भी परस्पर विरुद्ध है।

३. पुनरुक्ति दोष—जिस बात को लोग जानते हैं उसी को पुनः कहना पुनरुक्ति है। जैसे—आप उन्दन्तु (तै०सं० १.२.१.१) यह मन्त्र कहता है कि क्षौरकाल में सिर को जल से भिंगो देना चाहिये। यह बात तो सभी लोग जानते और करते भी हैं तो फिर वेद मन्त्र सिरको जलसे भिंगोने के लिए कहना पुनरुक्ति है।" शुमिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम" (आप०मं०पा० २.८.९)—यहाँ विवाह के प्रसङ्ग में वरमाला से कहा जाता है कि तुम सिर पर चढ़ो। यह बात भी लोकसिद्ध ही है। अतः, इसे पुनः कहना दोषावह है।

इस प्रकार वेद में ये तीनों दोष दिखलाई पड़ते हैं। साथ ही वेद को दो भाग ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड दोनों में भी परस्पर संघर्ष है। ज्ञानकाण्ड को वेदान्ती मानते हैं तथा कर्मकाण्ड को मीमांसक मानते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे को अप्रमाण बतलाते हैं। यद्यपि पूर्व-मीमांसा दर्शन में इन सभी दोषों का समाधान किया है, लेकिन चार्वाक उसे नहीं मानते।

इसलिए चार्वाकों का मानना है कि अग्निहोत्र आदि सभी कर्म ढोंग हैं। ये केवल ब्राह्मणों की जीविका का साधन है। त्रिदण्ड तथा भस्म संन्यासी धारण करते हैं। लेकिन चार्वाकों के मतानुसार यह सब पाखण्ड है।

५. ईश्वर-मोक्ष-आत्मा

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। 'मम शरीरम्' इति व्यवहारो 'राहोः शिरः' इत्यादिवदौपचारिकः।।

अनुवाद—इसलिये कांटे आदि से उत्पन्न दुःख ही नरक है। संसार में सिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह (शरीर) का विनाश ही मोक्ष है। शरीर को आत्मा मानने पर "मैं मोटा हूँ", "मैं दुबला हूँ", "मैं काला हूँ" इस प्रकारका सामानाधिकरण्य भी उपपन्न हो जाता है। "मेरा शरीर" यह व्यवहार "राहु का शिर" इस प्रयोग के समान ही औपचारिक है।

विशेष—चार्वाक मतानुसार शरीर ही आत्मा है। 'अहं स्थूलः' इस वाक्य में अहम् का अर्थ है आत्मा अर्थात् शरीर। शरीर ही मोटा, दुबला, काला आदि है। इसलिए अहंत्व तथा स्थूलत्व दोनों का एक अधिकरण (आश्रय) होने से सामानाधिकरण्य लग जा रहा है। लेकिन 'मम शरीरम्' यह प्रयोग देहात्मवाद के अनुसार औपचारिक (गौण) है। जब अहमर्थ आत्मा ही शरीर है तो दोनों में सामानाधिकरण्य होना चाहिये, तथापि 'मेरा शरीर' प्रयोग 'राहोः शिरः' के समानगौण है। राहु स्वयं शिररूप है तथा केतु कबन्धरूप। फिर भी 'राहोः शिरः' प्रयोग गौण प्रयोग है। अद्वैत वेदान्त में अहमर्थ आत्मा को शरीर से भिन्न माना जाता है। अतः उनके मत में 'अहं स्थूलः' आदि प्रयोग गौण हैं तथा 'मम शरीरम्' प्रयोग मुख्य है।

६. चार्वाक मत-संग्रह

तदेतत्सर्वं समग्राहि—

४. अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते।।
५. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।।
६. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।
७. किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।।
८. देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी।।

अनुवाद—इन सभी विचारों का सङ्ग्रह किया गया है—

स्त्रीसङ्ग से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है तथा कण्टकादि पीड़ा से उत्पन्न दुःख ही नरक है।

लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, दूसरा नहीं। देश का नारा ही मुक्ति है। ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

चार ही महाभूत है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। इन चारों महाभूतों से ही चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्यों के मिलने पर मदशक्ति उत्पन्न होती है।

'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इस सामानाधिकरण्य के कारण तथा देह में स्थूलता आदि होने के कारण वह देह ही आत्मा है दूसरा नहीं। 'मेरा देह' यह उक्ति औपचारिक (गौण) है।

७. *अनुमान-प्रमाण का खण्डन*

स्यादेतत्। स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात्। अस्ति च प्रामाण्यम्। कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत? 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति?

तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकम् अभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः। व्याप्तिश्च उभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्गभावं भजते किं तु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायो भवेत्?

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) यह हो सकता है। यह आपकी (चार्वाकों की) इच्छा तभी पूरी होगी, जब अनुमान आदि का प्रामाण्य नहीं होगा। लेकिन अनुमानादि का प्रामाण्य तो है। अन्यथा धूम को देखने के बाद अग्नि के प्रति बुद्धिमानों की प्रवृत्ति कैसे उपपन्न होगी? और "नदी के तट पर फल हैं" इस वचन को सुनने के बाद फल चाहने वाले व्यक्ति की नदी के तट पर प्रवृत्ति कैसे होगी? (चार्वाकमत-सिद्धान्त मत) यह सब केवल मन के राज्य (मनोराज्य) का विस्तार मात्र है। अनुमान प्रमाण को मानने वालों ने व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त लिङ्ग (हेतु) को ही साध्य का गमक माना है। दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित सम्बन्ध व्याप्ति है। वह व्याप्ति सम्बन्ध केवल रहने मात्र से चक्षु आदि के समान अनुमान का अङ्ग नहीं बनता, बल्कि ज्ञात होने से अङ्ग बनता है। व्याप्ति के ज्ञान का उपाय क्या हो सकता है?

विशेष—चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अनुमान तथा शब्द प्रमाण नहीं हैं। इस मत के खण्डन के लिए पूर्वपक्षी कहता है कि यदि अनुमान प्रमाण नहीं तो धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान कैसे होगा? इसी तरह यदि शब्द प्रमाण नहीं हैं तो "नदी के तट पर फल हैं" यह आप्त शब्द सुनकर कोई व्यक्ति फलके लिए कैसे प्रवृत्त होगा?

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का करण प्रमाण है। अनुमान प्रमाण में हेतु को देखकर साध्य का ज्ञान होता है। हेतु तथा साध्य की परस्पर व्याप्ति का ज्ञान होने पर तथा व्याप्ति से विशिष्ट हेतु को पक्ष (जहाँ साध्य को सिद्ध करते हैं) में देखने पर साध्य का ज्ञान ही अनुमिति प्रमा है।

जैसे पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) को देखकर अग्नि (साध्य) का ज्ञान होता है। इसमें सर्वप्रथम पर्वत में धूम को देखकर "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः" (जहाँ-जहाँ धूम

है वहाँ-वहाँ अग्नि है) इस व्याप्ति का स्मरण होता है। फिर "व्याप्तिविशिष्ट धूम वाला पर्वत है" यह ज्ञान होने पर 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति प्रमा होती है।

व्याप्ति में दोनों प्रकार की उपाधि नहीं होती है। उपाधि दो तरह की होती है—निश्चित और शंकित। जैसे—"यत्र-यत्र वह्निः तत्र-तत्र धूमः" यहाँ व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि यहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। गीला इन्धन रहने पर ही वह्नि से धूम निकलता है, अन्यथा नहीं। इसलिए यह निश्चित उपाधि है। इसी प्रकार कहीं-कहीं शंकित उपाधि भी होती है। व्याप्ति में ये दोनों उपाधियाँ नहीं होनी चाहिये।

यह व्याप्ति केवल रहने मात्र से अग्नि का ज्ञान नहीं कराती, बल्कि व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही अग्नि का ज्ञान होता है। लेकिन चक्षु तो केवल रहने से ही रूप का ज्ञान कराता है।

इसी प्रकार आप्त (सत्यवक्ता) के वचन (शब्दप्रमाण) को सुनकर शाब्दप्रमा होती है। जैसे—'नदी के तट पर फल हैं' यह आप्तवचन सुनकर फलार्थी की प्रवृत्ति होती है।

अब व्याप्ति के ज्ञान का उपाय क्या है? इस बारे में प्रश्न करके पूर्वपक्ष का खण्डन चार्वाक करते हैं।

८. प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्तज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसम्भवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्वोपसंहारवत्याः व्याप्तेः दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात्। नाऽपि चरमः अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रिय-तन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्—चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः (त०वि० २०)। इति।।

अनुवाद—प्रत्यक्ष प्रमाण व्याप्ति ज्ञानका उपाय नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण या तो बाह्य माना गया है या आन्तर। इनमें प्रथम नहीं हो सकता अर्थात् बाह्य प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों से सम्बद्ध (सम्प्रयुक्त) विषय के ज्ञान का जनक होने के कारण वर्तमान काल के विषयों का ज्ञान भले ही कराता हो, लेकिन भूत-भविष्य के विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, इसलिए सभी कालों का संग्रह करने वाली व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा कठिन है। व्याप्ति का ज्ञान सामान्य के विषय में होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने पर दो व्यक्तियों के अविनाभाव (व्याप्ति) के अभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा। दूसरा भी सम्भव नहीं अर्थात् आन्तर प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के अधीन है। अतः बाह्य विषयों में स्वतन्त्रता पूर्वक अन्तःकरण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि कहा गया है—चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उक्त विषयों वाला मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन है।

(तत्त्वविवेक-२०)

विशेष—चार्वाकों कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो

सकता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष से केवल वर्तमानमालिक विषयों का ही ज्ञान होता है जबकि व्याप्ति तो त्रिकाल विषयक नियम है। यदि यह कहें कि वर्तमान कालिक धूम तथा अग्नि के साहचर्य को देखकर धूमत्व तथा अग्नित्व सामान्य की व्याप्ति बनायी जाती है। धूमत्व तथा अग्नित्व सामान्य तो त्रैकालिक धूम तथा अग्नि में है। ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि धूमत्व अग्नित्व सामान्य की व्याप्ति से व्यक्ति धूम तथा व्यक्ति अग्निकी व्याप्ति नहीं बन पायेगी।

इसी तरह आन्तरिक प्रत्यक्ष (अर्थात् मन द्वारा सुख दुःख आदि का ज्ञान) भी बाह्य विषयों के अधीन है। सुख-दुःख के बाह्य साधनों के द्वारा ही मन में सुख-दुःख का ज्ञान होता है। अतः जब बाह्य प्रत्यक्ष व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता, तो बाह्य प्रत्यक्ष के अधीन रहने वाला आन्तरिक प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ज्ञान कैसे करा सकेगा?

९. *अनुमान और शब्द से भी व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं*

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्र तत्रापि एवमित्यनवस्थादोःस्थ्य-प्रसङ्गात्। नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घना-जङ्घालत्वात्। धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वा-साभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यान्तरदर्शनेन अर्थान्तरानुमित्यभावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परानुमानस्य?

अनुवाद—न ही अनुमान व्याप्तिज्ञान का उपाय है। क्योंकि उस-उस अनुमानमें फिर से व्याप्ति ज्ञान के लिए अनुमान की कल्पना पड़ेगी अतः अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आयेगा। न ही शब्द व्याप्ति ज्ञान का उपाय है, क्योंकि काणाद (वैशेषिक) मत के अनुसार शब्द प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव न मानने पर भी वृद्ध पुरुषों के व्यवहार रूप लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पड़ने के कारण पूर्वोक्त दोष (अनवस्था दोष) को लांघना कठिन है। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति है यह कहने मात्र से मनु आदि ऋषियों पर विश्वास के समान विश्वास नहीं होगा। अविना भाव सम्बन्ध को न जानने वाले पुरुष को एक वस्तु (धूमादि) देखकर दूसरी वस्तु (अग्नि आदि) का अनुमान नहीं होता, इसलिए स्वार्थानुमान की कथा ही केवल शेष रह जाती है, तो फिर परार्थानुमान की बात ही क्या है?

विशेष—वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव मानकर केवल तीन ही प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान। शक्तिग्रह अर्थात् 'इस शब्द का यह अर्थ है' इस ज्ञान के अनेक कारण हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।

शक्तिग्रह के निम्नलिखित कारण हैं—

व्याकरण, उपमानप्रमाण, कोश, आप्तवचन, व्यवहार, अर्थवाद, व्याख्यान, प्रसिद्धपदसमभिव्याहार ।

जैसे—धातु, प्रत्यय आदि में शक्तिग्रह व्याकरण से होता है। इसी प्रकार "गोसदृशः गवयः" (गवय गौ के समान होता है) यह सुनकर जंगल में जाकर जब कोई व्यक्ति गाय देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है "अयं गवयपदवाच्यः" (यही गाय पद का अर्थ है) यही ज्ञान उपमिति प्रमा है इसका कारण था—उपमान प्रमाण (गो सदृशः गवय इत्याकारक ज्ञान) इस उपमान प्रमाण से गवय पद में शक्तिग्रह होता है। इसी प्रकार शब्द कोश तथा शब्द प्रमाण से भी शक्तिग्रह होता है। इसी प्रकार वृद्ध व्यवहार भी शक्तिग्रह का कारण है। प्रयोजकवृद्ध (उत्तमवृद्ध) के द्वारा 'गामानय' (गाय लाओ) यह वचन सुनकर प्रयोज्य वृद्ध (मध्यमवृद्ध) गाय ले आता है। यह सब देखकर व्युत्पित्सु बालक 'गामानय' का अर्थ है "गाय लाओ" यह जान लेता है और क्रमशः 'गाम्' का अर्थ 'गाय' तथा 'आनय' का अर्थ 'लाओ' है यह समझता है। इस प्रकार वृद्धव्यवहार भी शक्तिग्रह का हेतु है।

"अयं गोपदवाच्यः वृद्धव्यवहारात्" इस अनुमान प्रयोग के कारण शक्तिग्रह में वृद्धव्यवहार कारण है। अतः शब्द प्रमाण में पद के अर्थ ज्ञान के लिए वृद्धव्यवहार रूप लिङ्ग (हेतु) की अपेक्षा है। इसलिए यदि शब्द प्रमाण को व्याप्ति ज्ञान का कारणमानते हैं तो शब्द प्रमाण को भी वृद्ध व्यवहार रूप हेतु की अपेक्षा तथा "यत्र-यत्र वृद्धव्यवहारः तत्र तत्र गोपदवाच्यत्वम्" इस व्याप्ति ज्ञान के लिए पुनः शब्द प्रमाण की अपेक्षा ऐसी अनवस्था आयेगी।

अर्थवाद भी शक्तिग्रह का कारण है। "यवमयश्चरुर्भवति" यहाँ यव पद के अर्थ में शंका होती है कि इसका अर्थ जौ है या कङ्गु? उस समय "यदान्या औषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानाश्च तिष्ठन्ति" (जब अन्य पौधे सूख जाते हैं, तब भी यह खिले रहते हैं) इस अर्थवाद (वाक्यशेष) के कारण यव का अर्थ 'जौ' निश्चित होता है, क्योंकि अन्य पौधे के सूखने पर भी जौ ही खिले हुए दिखलाई पड़ते हैं।

विवृति या व्याख्या से भी शक्तिग्रह होता है जैसे 'घट' पद की व्याख्या करते हुए उसका समानार्थक पद 'कलश' दे देते हैं। जिससे पता चलता है कि घट पद का अर्थ 'कलश' है।

'सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (आम के पेड़ पर कोयल मीठा गाती है) इस वाक्य को सुनने वाला कोई व्यक्ति 'पिक' शब्द को छोड़कर अन्य सभी पदों के अर्थ को जानता है। उस व्यक्ति को वाक्य के अन्य पदों के अर्थ को जानकर यह ज्ञान हो जाता है कि पिक का अर्थ 'कोयल' है। यही है 'प्रसिद्धपदसमभिव्याहार'। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान को न जानने वाला कोई व्यक्ति स्वार्थानुमान भी नहीं कर सकता, फिर परार्थानुमान की बात ही क्या? स्वयं की अनुमिति के लिए होने वाला अनुमान स्वार्थानुमान है तथा दूसरे को अनुमिति ज्ञान कराने के लिए होने वाला अनुमान परार्थानुमान है।

जब कोई अनुमान अनन्तकाल तक चलता रहता है तो अनवस्था दोष होता है।

१०. उपमानादि से भी व्याप्तिज्ञान संभव नही

उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादि-बोधकत्वेन अनौपाधिकसम्बन्धबोधकत्वासम्भवात्।।

अनुवाद—उपमान आदि तो दूर से ही खण्डित हो गये। उपमान प्रमाण संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का बोधक होने के कारण उससे अनौपाधिक सम्बन्ध का बोधकत्व सम्भव नहीं है।

विशेष—उपमानादि प्रमाणों से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता। उपमान प्रमाण का लक्षण है—

''उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः।

पूर्वोक्त उदाहरण में ''गौ के समान गवय है'' यह ज्ञान उपमान प्रमाण है तथा इससे उत्पन्न ''यही गवय है'' इत्याकारक ज्ञान उपमिति प्रमा है।

इस प्रकार उपमान प्रमाण सोपाधिक सम्बन्धका ही ज्ञान कराता है। यह केवल संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का ही बोध कराता है। यह निरूपाधिक सम्बन्ध का बोध नहीं करा पाता जबकि व्याप्ति तो उपाधिरहित सम्बन्ध है। अनुपलब्धि, अर्थापत्ति प्रमाण भी व्याप्तिज्ञान का कारण नहीं बन सकते।

११. व्याप्तिज्ञान का दूसरा उपाय भी नहीं है, उपाधि का लक्षण

किञ्च-उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि, अप्रत्यक्षाणामभावस्य अप्रत्यक्षतयाऽ-नुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च, 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्य-समव्याप्तिः' इति तल्लक्षणं कक्षीकर्त्तव्यम्। तदुक्तम्—

अनुवाद—और (व्याप्ति में) उपाधि के अभाव को जानना भी अत्यन्त कठिन है। उपाधि के विषय में 'प्रत्यक्षत्व' का नियम सम्भव नहीं है। (अर्थात् ''सभी उपाधियाँ प्रत्यक्ष ही हैं'' यह नियम नहीं बन सकता) क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव भी प्रत्यक्ष है तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव भी अप्रत्यक्ष है। (यदि अप्रत्यक्ष पदार्थों के अभाव को जानने के लिए) अनुमानादि की अपेक्षा रखी जायेगी तो भी उक्त (अनवस्था) दोष को हटाया नहीं जा सकता और ''साधन (हेतु) का अव्यापक होते हुए जो साध्य का समव्यापक हो'' यह उपाधिलक्षण मानना पड़ेगा। जैसा कि कहा गया है—

विशेष—अनुमान प्रमाण में व्याप्ति ज्ञान किसी भी उपाय से सम्भव नहीं है। व्याप्ति निरुपाधिक सम्बन्ध है। लेकिन उपाधि का अभाव प्रत्यक्ष से ही नहीं जाना जा सकता। उपाधि कई प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, मूर्त, अमूर्त, द्रव्यरुप, गुणरुप, शंकित तथा निश्चित। प्रत्यक्ष वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है तथा अप्रत्यक्ष वस्तु का अभाव अप्रत्यक्ष से होता है। अप्रत्यक्ष वस्तु का अभाव यदि अनुमानादि से जाना जाए तो पुनः अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि अनुमान में फिर व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा तथा उसके लिए फिर से उपाधि के अभावके ज्ञान की आवश्यकता होती है। उपाधि के अभाव के लिए पुनः अनुमान की जरुरत है।

न्यायदर्शन में उपाधि का लक्षण माना गया है—

साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः।   — तर्कसङ्ग्रह

जो साध्य का व्यापक हो लेकिन साधन (हेतु) का अव्यापक हो, वह उपाधि है।

जैसे—

'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में जो व्याप्ति (यत्र यत्र वह्निः तत्र-तत्र धूमः) बनती है, वह उपाधि से ग्रस्त है।

यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग (गीली लकड़ी का संयोग) उपाधि है। अग्नि के साथ गीली लकड़ी का संयोग रहने पर ही धूम निकलता है, अन्यथा नहीं।

यह उपाधि साध्य (धूम) की व्यापक है, क्योंकि ''यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र आर्द्रेन्धन-संयोगः' ऐसी व्याप्ति बन जाती है। यह समव्याप्ति है अर्थात् ''यत्र-यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः तत्र-तत्र धूमः'' यह व्याप्ति भी बनती है। लेकिन 'आर्द्रेन्दधनसंयोग' उपाधि साधन (अग्नि) की अव्यापक है, क्योंकि 'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः' यह व्याप्ति नहीं बनती। अयोगोलक (गर्म लोहपिण्ड) में अग्नि तो है, लेकिन आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है।

९. **अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः ।**
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च ।।

१०. **व्यावर्त्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि ।**
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्य्यैश्च ।। इति।

अनुवाद—जो साधन (हेतु) को व्याप्त न करे तथा साध्य को समव्याप्त करे, वह उपाधि कहलाता है। शब्द को अनित्य सिद्ध करने में 'सकर्तृकत्व', 'घटत्व' तथा 'अश्रवत्व'—ये तीनों उपाधियाँ बन जातीं। इन तीनों उपाधियों को हटाने के लिए ही उपाधि के लक्षण में क्रमशः तीन विशेषण ('अव्याप्तसाधनत्व, साध्यसमत्व, साध्यव्याप्तित्व) दिये गये हैं। इसलिये यह उपाधिलक्षण निर्दुष्ट है तथा आचार्यों के द्वारा 'समासमा' इत्यादि श्लोक के द्वारा कहा गया है।

विशेष—उपाधि के लक्षण में तीन सार्थक विशेषण दिये गये हैं—१. साधन को व्याप्त न करे २. साध्य का सम व्यापक हो ३. साध्य का व्यापक हो। ये तीनों विशेषण उपाधि के लक्षण में आवश्यक हैं अन्यथा ''शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्'' (शब्द अनित्य है कार्य=जन्य होने के कारण) इस अनुमान में उपाधि आ जायेगी। यहाँ 'व्याप्त' का अर्थ है—व्याप्य।

१. यदि 'अव्याप्तसाधनः' यह विशेषण उपाधिलक्षण में न दिया जाये तो उपाधि का लक्षण होगा—'साध्यसमव्याप्तिः'। ऐसा होने पर—

'शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्'

यहाँ 'सकर्तृकत्व' उपाधि मिल जायेगी। 'सकर्तृत्व' साध्य (अनित्यत्व) का समव्यापक है। 'यत्र-यत्र अनित्यत्वं तत्र-तत्र सकर्तृकत्वम्', तथा 'यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्' यह बनने से 'सकर्तृकत्व' अनित्यत्व का समव्यापक है, लेकिन 'सकर्तृकत्व' (कर्ता से युक्त होना) साधन (कार्यत्व) का अव्यापक नहीं है। 'यत्र-यत्र कार्यत्वम्, तत्र-तत्र सकर्तृकत्वं'' ऐसी व्याप्ति भी बन जाती है तो सकर्तृकत्व साधनका व्यापक हो गया जबकि उसे साधनाव्यापक होना चाहिये थे। इसलिए उपाधि लक्षण में 'अव्याप्तसाधनः' विशेषण देने से उक्त अनुमान में 'सकर्तृकत्व' उपाधि नहीं बन सकती।

२. इसी प्रकार 'साध्यसमव्याप्तिः' यहाँ 'सम' विशेषण न देकर यदि उपाधि का लक्षण होता—'अव्याप्तसाधनः साध्यव्याप्तिः' तो पूर्वोक्त अनुमान में 'घटत्व' उपाधि बन जाती। 'घटत्व' साधन=कार्यत्व का अव्यापक है। "यत्र-यत्र कार्यत्वं तत्र घटत्वं" यह व्याप्ति नहीं बन सकती। पटादि में कार्यत्व है, परन्तु घटत्व नहीं।

इस प्रकार 'घटत्व' 'साधनाव्यापक' हुआ तथा घटत्व की साध्य के साथ व्याप्ति भी है। 'यत्र यत्र घटत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्। यह व्याप्ति बनने से 'घटत्व' में 'साध्यव्याप्ति' भी आ गयी, लेकिन घटत्व में 'साध्यसमव्याप्ति' नहीं है। "यत्र यत्र अनित्यत्वं, तत्र-तत्र घटत्वम्" यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिए उपाधि लक्षण में साध्यसमव्याप्ति में 'समत्व' विशेषण देने से 'घटत्व' के उपाधित्व का वारण हो गया।

३. तीसरा विशेषण 'साध्यसमव्याप्ति' में 'व्याप्ति' है। यह विशेषण न देने पर उपाधि का लक्षण होगा—'अव्याप्तसाधनः साध्यसमः उपाधिः' ऐसा मानने पर पूर्वोक्त उदाहरण में ही 'अश्रवत्व' उपाधि बनेगी। अश्रवत्व (श्रवणेन्द्रिय का अविषय) साधनका अव्यापक है। "यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र अश्रवत्वं" यह व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि शब्द में कार्यत्व है लेकिन अश्रवत्व नहीं। इसलिए 'अश्रवत्व' साधन का अव्यापक हुआ। साथ ही अश्रवत्व साध्य (अनित्यत्व) का सम है। अनित्य पृथ्वी मे अनित्यत्व तथा अश्रवत्व का सामानाधिकरण्य है। लेकिन अश्रवत्व की साध्य (अनित्यत्व) के साथ व्याप्ति नहीं है। 'यत्र यत्र अनित्यत्वं तत्र-तत्र अश्रवत्वं तथा यत्र-यत्र अश्रवत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्' ये दोनों ही व्याप्ति संभव नहीं है। इसलिए 'अश्रवत्व' की अनित्यत्व (साध्य) के साथ व्याप्ति ही न होने से यदि उपाधि लक्षण में 'व्याप्ति' विशेषण दे दें तो पूर्वोक्त अनुमान में 'अश्रवत्व' उपाधि नहीं आ पायेगी।

'समासमा' का पूर्ण श्लोक अधोलिखित है—

समा समा बिना भवावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः ॥

—*(खण्डन खण्डखाद्य, आनन्द पूर्णीय टीका अनुमान खण्डन पृ० ७०७)*

अर्थात् जिस अनुमान में समव्याप्ति तथा असमव्याप्ति दोनों बने, लेकिन सम के द्वारा असम (हीन) व्याप्त न हो वहाँ असम हेतु साध्य का प्रयोजक (साधक) नहीं होता है। जैसे—"पर्वतो धूमवान् वह्नेः"

यहाँ '-'यत्र यत्र धूमः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः" तथा "यत्र-यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः तत्र तत्र धूमः" यह धूम तथा आर्द्रेन्धन संयोग की समव्याप्ति बनती है। तथा " यत्र-यत्र आर्द्रेन्धन संयोगः तत्र तत्र अग्निः" यह व्याप्ति तो बनती है लेकिन" यत्र-यत्र अग्निः, तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः" यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिए अग्नि तथा आर्द्रेन्धन संयोग की असम व्याप्ति है। इस तरह समव्याप्ति तथा असम व्याप्ति इन दोनों के बनने पर सम (धूम) से असम (अग्नि) व्याप्त नहीं, क्योंकि "यत्र-यत्र अग्निः, तत्र-तत्र धूमः" यह व्याप्ति नहीं बनतीं। इसलिए अग्नि 'धूम' को सिद्ध नहीं कर सकता।

१२. व्याप्तिज्ञान और उपाधिज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्य उपाधिज्ञाने जाते

तदभावविशिष्टसम्बन्धरूपव्याप्तिज्ञानं, व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रय-वज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः।।

अनुवाद—उसमें विधि का निश्चय होने के बाद ही निषेध का निश्चय होने के कारण उपाधि का ज्ञान होने पर ही उपाध्यभावविशिष्टसम्बन्ध रूप व्याप्ति ज्ञान का निश्चय हो सकता है तथा व्याप्तिज्ञान के अधीन ही उपाधि ज्ञान है। इस प्रकार परम्पराश्रयरूप वज्रप्रहार का दोष वज्रलेप के समान हो जा रहा है। इसलिए व्याप्ति का ज्ञान दुर्बोध होने से अनुमानादि प्रमाणों का कोई अवसर नहीं है।

विशेष—उपाधि का ज्ञान होने के पश्चात् ही उपाध्यभावविशिष्ट व्याप्ति का ज्ञान सम्भव है इसलिए पहले उपाधि को जानना जरूरी है। उपाधि को बिना व्याप्ति ज्ञान के नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। यदि दो पदार्थों को अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की आकांक्षा रहती है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

१३. लौकिक-व्यवहार और वस्तुएँ

धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

११. **अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।**
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।इति।

अनुवाद—धूमादि का ज्ञान होने के बाद अग्नि आदि के ज्ञान में प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के कारण या भ्रम के कारण भी हो सकती है। कभी-कभी फल की प्राप्ति तो मणि, मन्त्र तथा औषधि के समान स्वाभाविक रूप से हो जाती है। इसलिए 'फल प्राप्ति' को हेतु बनाकर साध्य अदृष्टादि भी नहीं है। यदि यह कहें कि अदृष्ट के न होने से जगत् की विचित्रता आकस्मिक होगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जगत् की विचित्रता स्वभावत: सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—

अग्नि उष्ण है, जल शीत है तथा वायु समशीतोष्ण स्पर्श वाला है। यह विचित्रता किसने की है? (तो इसका उत्तर यह है कि) स्वभाव से ही यह व्यवस्था हुई है।

विशेष—कभी-कभी धूम के देखकर ही अग्नि का भ्रम हो जाता है और मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है। लेकिन वास्तव में कार्यकारणभाव मणि, मन्त्र तथा औषधि से उत्पन्न फल के समान है। मणिमन्त्रादि से कभी फल की प्राप्ति हो भी सकती है, तो कभी फल की प्राप्ति नहीं भी हो सकती है। अत: फल प्राप्ति अनियत है तो उस फलप्राप्ति के द्वारा अदृष्ट (अपूर्व) की कल्पना करना भी बेकार है। मीमांसक लोग फलप्राप्ति को हेतु बनाकर अदृष्ट का अनुमान करते हैं।

"यागादिः अपूर्वजनकः विनष्टे सति स्वर्गजनकत्वात्" (यागादि अपूर्व को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह नष्ट होने पर भी स्वर्ग प्राप्त कराता है)

इस प्रकार अदृष्ट को न मानने पर यह आपत्ति आयी कि जगत् की विचित्रता को आकस्मिक कहना पड़ेगा। इस पर चार्वाक कहते हैं कि जगत् की विचित्रता आकस्मिक नहीं स्वाभाविक है। जैसे हवा गर्म है, पानी ठंडा। वैसे ही जगत् में भी विचित्रता है। कोई सुखी है कोई दुःखी है। इसमें कर्म फल मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१४. चार्वाक-मत का सार

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्—

१२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।
१३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ।।
१४. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते? ।।
१५. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ।।

अनुवाद—यह सब बृहस्पति ने भी कहा है—न स्वर्ग है, न तो मोक्ष है, न ही परलोक में रहने वाली आत्मा है। वर्ण, आश्रम आदि की क्रियाएँ (वर्णाश्रमधर्म) भी फल देने वाली नहीं हैं। अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड धारण करना तथा भस्मलेप—यह सब बुद्धि तथा पौरुष से हीन लोगों के लिए ब्रह्मा द्वारा निर्मित आजीविका है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग जायेगा तो यजमान उस यज्ञ में अपने पिता को ही क्यों नहीं मारता?

यदि मरे हुए लोगों के लिये किया गया श्राद्ध तृप्तिकारक है, तो बुझे हुए दीपक का तेल भी उसकी लौ को बढ़ायेगा।

विशेष—पूर्वोक्त चार्वाक मत को पुष्ट करने के लिए साररुप में चार्वाक मत के प्रतिपादक श्लोकों को प्रस्तुत किया जा रहा है। विष्णु पुराण में भी चार्वाक मत का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते ।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम् ।।
यज्ञैरनेकैर्देव त्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
शम्यादि यदि चेत् काण्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः।।
नित्तस्य पशोः यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ।।

तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः।। (वि.पु. ३.१८.२५-२८)

१६. गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ।।

१७. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते? ।।

१८. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

१९. यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः? ।।

अनुवाद—यात्रा पर जाने वाले लोगों के लिये पाथेय (यात्रा का भोजन) की व्यवस्था करना बेकार है। अन्यथा घर में किये श्राद्ध से रास्ते में तृप्ति मिल जायेगी।

यदि स्वर्ग में स्थित पितर यहाँ दान देने से तृप्त हो जायेंगे, तो महल के ऊपर बैठने वाले व्यक्ति के लिए यहाँ नीचे ही अन्नादि क्यों नहीं दिया जाता।

जब तब जियो, सुख से जीना चाहिये। ऋण लेकर घी पीना चाहिये। शरीर के भस्म होने पर उसका पुनः आगमन कहाँ होता है?

यदि यह आत्मा देह से निकलकर पर लोक चला जाता है, तो बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर पुनः क्यों नही लौट आता?

विशेष—यज्ञीय हिंसा मीमांसक मत में हिंसा नहीं तथापि यहाँ चार्वाक अपना मत प्रतिपादित करते हुए उसे हिंसा की संज्ञा दे रहे हैं। वे श्राद्ध पर लोक, आत्मा आदि का खण्डन कर रह हैं।

२०. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ।।

२१. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ।।

२२. अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ।।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ।। इति।।

तस्माद्बहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्वाक-मतमा-श्रयणीय-मिति रमणीयम्।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसङ्ग्रहे चार्वाकदर्शनम्।।

अनुवाद—इसलिए यह ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया आजीविका का उपाय है कि मृत व्यक्ति के प्रेत कार्य (करने चाहिये)। इसके अलावा कुछ भी नहीं है।

वेद के तीन ही कर्ता हैं-भांड़, धूर्त और राक्षस। 'जर्भरी तुर्फरी' आदि पण्डितों के वचन कहे गये हैं।

(अश्वमेध यज्ञ में) घोड़े का लिंग यजमान पत्नी का पकड़ने के लिए कहा गया है। भांड़ों (वैदिकों) के द्वारा अन्य वस्तुओं को भी पकड़ने के लिए कहा गया है। (यज्ञ में) मांस का क्षण भी राक्षसों के द्वारा कहा गया है।

इसलिए बहुत से प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए चार्वाक मत का आश्रय लेना चाहिए।

विशेष—ऋग्वेद में 'जर्फरी आदि' मन्त्र आया है। यह मन्त्र इस प्रकार है-

सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराप्वजरं मरायु ।।

—ऋग्वेद (१०.१०६.६)

इसका अर्थ है-

हे अश्विनीकुमार! आप अंकुश के योग्य (सृण्येव) मतवाले हाथी के समान हैं। आप शरीर को झुकाने वाली हैं। (जर्भरी) आप मारने वाले हैं। (तुर्फरीतू) अत्यन्त सन्तोषी पुरुष के पुत्रों के समान (नैतोशेव) शत्रुओं के विनाशक हैं। (तुर्फरी) आप धन से भरने वाले हैं। (पर्फरी- का) आप जल से उत्पन्न वस्तुओं से निर्मल हैं। (उदन्यजेव) आप विजय करने वाले हैं। (जेमना) आप मजवाले हैं या स्तुतियोग्य हैं। (मरेरू) वे दोनों अश्विनी कुमार (ता) मेरे (मे) बुढ़ापे से युक्त (जटायु) तथा मरण से युक्त (मरायु) शरीर को अजर अमर (अजरम्) बना दें।

अश्वमेघ यज्ञ में प्रसङ्ग में घोड़े का लिङ्ग यजमान की पत्नी को पकड़ना पड़ता है। कहीं-कहीं यज्ञ में मांस भक्षण भी करना पड़ता है। अतः चार्वाक कहता है ये सब भांड़ों तथा राक्षसों ने कहा है। चार्वाक के अनुसार वेदकर्ता भाड़ तथा राक्षस ही हैं।

।। इति चार्वाकदर्शनम् ।।

शून्यं जगत् क्षणिकमात्रमथाप्तदुःखं स्वस्यैव लक्षणमयं तनुते स्वभावम्।
दुःखादितत्त्वमखिलं च दिदेश देशे बुद्धाय शिष्यसहिताय नमोऽस्तु तस्मै।। -ऋषि:

(१. चार्वाक-मत का खण्डन-व्याप्ति की सुगमता)

अत्र बौद्धैरभिधीयते—यदभ्यधायि, 'अविनाभावो दुर्बोध इति' तदा. साधीयः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात्। तदुक्तम्—

१. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।।

(प्र० वा० १/३३)। इति

अनुवाद—इस व्याप्ति के विषय में बौद्ध लोग कहते हैं—जो कहा गया कि "अविनाभाव (व्याप्ति) का ज्ञान दुर्बोध (जानने में कठिन) है" यह ठीक नहीं है। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सम्बन्ध से व्याप्ति का ज्ञान आसानी से हो सकता है। जैसा कि कहा गया है—

कार्यकारणभाव से या नियामक स्वभाव से व्याप्ति का नियम बनता है, साध्यसाधन के एक साथ अदर्शन अथवा दर्शन से नहीं।

विशेष—बौद्ध दो प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं—तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति। इन दोनों सम्बन्धों से व्याप्ति का ज्ञान आसानी से होता है। श्लोक में यही बात बतलायी गयी है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अर्थ है-कार्यकारणभाव। जैसे-धूम तथा अग्नि का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। तथा तादात्म्य का अर्थ है-स्वभाव। जैसे-आम्र तथा वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध तथा तदुत्पत्ति सम्बन्ध से जुड़ी वस्तुओं में परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध होता है। जैसे आम्र तथा वृक्ष की व्याप्ति है-जहाँ-जहाँ आम्रत्व है-वहाँ-वहाँ वृक्षत्व है। (तादात्म्य सम्बन्ध)

इसी तरह धूम तथा अग्नि की व्याप्ति है—यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः। (तदुत्पत्ति सम्बन्ध)

(२. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं)

'अन्वयव्यतिरेकौ अविनाभावनिश्चायकौ' इति पक्षे साध्यसाधनयोरव्यभिचारो दुरवधारणो भवेत्। भूते भविष्यति वर्तमाने चानुपलभ्यमानेऽर्थे व्यभिचारशङ्काया अनिवारणात्। ननु तथाविधस्थले तावकेऽपि मते व्यभिचारशङ्का दुष्परिहारा—इति चेत्, मैवं वोचः। विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यतामित्येवंविधायाः शङ्काया व्याघाताविधिकतया निवृत्तत्वात्। तदेव

ह्याशङ्क्येत यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो नावरतेयुः तदुक्तम्– 'व्याघातावधिराशङ्का' (कुसु० ३।७) इति॥

अनुवाद—"अन्वय तथा व्यतिरेक अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करते हैं"- इस न्याय पक्ष में साध्य तथा साधन का अव्यभिचार जानना अत्यन्त कठिन होगा। 'भूत, भविष्य तथा वर्तमान अनुपब्ध विषय में व्यभिचार की शंका का निवारण नहीं हो सकेगा। (नैयायिकों का प्रश्न है कि) ऐसे स्थल में आपके भी मत में व्यभिचार शङ्का दूर नहीं की जा सकती, यदि ऐसा कहें तो (हम बौद्ध कहते हैं कि) ऐसा मत कहिये।" बिना कारण के कार्य उत्पन्न होगा—इस प्रकार की शङ्का व्याघात मिलने पर चली जायेगी। ऐसी ही शङ्का करे, जिस शङ्का के करने पर व्याघात आदि प्राप्त ही नहीं होते। जैसा कि कहा गया है—व्याघात होने तक ही आशङ्का रहती है। (न्या० कु० ३/७)

विशेष—नैयायिक कहते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक विधियों के द्वारा व्याप्ति का निश्चय होता है। "तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्" अन्वय है तथा 'तदभावे तदभावः" व्यतिरेक है। जैसे-यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः (जहाँ-२ धूम है, वहाँ-२ अग्नि हैं) यह अन्वय है।

इस अन्वय विधि से धूम तथा अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। दूसरी विधि है-व्यतिरेकविधि। जैसे-यत्र-यत्र अग्निः नास्ति, तत्र-तत्र धूमः नास्ति। (जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम नहीं है) इस व्यतिरेक विधि से अग्न्यभाव तथा धूमाभाव की व्याप्ति का निश्चय होता है।

लेकिन उपर्युक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि सेव्याप्ति निश्चय बौद्धों को स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि न्यायमत मानने पर साध्य (वह्नि) तथा साधन (धूम) में अव्यभिचार जानना कठिन हो जाएगा। न्यायमतानुसार व्याप्ति का निश्चय अन्वयव्यतिरेक विधि से ही होता है, लेकिन यह मानने पर दोष यह है कि वर्तमान कालिक व्याप्ति ज्ञान का निश्चय अन्वयव्यतिरेक विधि से नहीं हो सकता है। बौद्धों के द्वारा उद्भावित इस दोष पर नैयायिक कहते हैं कि आपके मत में भी तो व्यभिचारशङ्का को हटाना कठिन है। इस पर बौद्ध कहते हैं कि हमारे मत में व्यभिचार शङ्का तभी तक रहती है जबतक व्याघात नहीं होता, व्याघात होने पर व्यभिचारशङ्का चली जाती है। व्यभिचार शङ्का दो प्रकार से हो सकती है-"कारण है किन्तु कार्य नहीं होता" अथवा "कारण नहीं है तथापि कार्य की उत्पत्ति हो गयी" इन दोनों व्यभिचारों के शंका की निवृत्ति व्याघात मिलने पर हो जाती है। व्याघात का अर्थ है विरोध। जब व्यभिचार शंका में विरोध आ जाता है तब व्यभिचार की शङ्का चली जाती है। अतः व्यभिचार ऐसा ही दिखाया जाना चाहिये, जिसमें विरोध न आ सके।

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में यही बात कही है–

शङ्का चेदनुमास्त्येव चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥

–न्या० कु० (३/७)

अर्थात् यदि शङ्का है तो भी अनुमिति होगी और यदि शङ्का नहीं है, तो भी

अनुमिति (अनुमा) होगी ही। क्योंकि यदि शंका रहती है तो भी अनुमान सिद्ध हो जाता है क्योंकि शंका का निरास व्याघात मिलने पर हो ही जाता है। इसी प्रकार यदि शंका नहीं है तो भी अनुमान सिद्ध हो जाता है, क्योंकि फिर तो शंका दूर करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। शंका व्याघात (विरोध) मिलने तक ही रहती है तथा तर्क भी शंका होने तक रहता है। धूम हेतुक अग्नि साध्यक अनुमान में यह तर्क किया जा सकता है "यदि आग नहीं है तो धूम भी नहीं होगा" यह तर्क तभी तक रहता है जब तक शंका नहीं होती तथा शंका तभी तक रहती है, जब तक व्याघात नहीं मिलता।

(३. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान-पञ्चकारणी)

तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पञ्चकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते।

अनुवाद—इसलिये तदुत्पत्ति के निश्चय से अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। तदुत्पत्ति का निश्चय कार्य और हेतु (कारण) के प्रत्यक्षतः प्राप्ति तथा अप्राप्ति आदि पञ्च अवयवों पर आश्रित है। उत्पत्ति के पहले कार्य की अप्राप्ति, कारण की प्राप्ति होने पर कार्य की प्राप्ति, कार्य की प्राप्ति होने के बाद कारण के न रहने पर कार्य का भी न होना-इन पांच प्रकारों से धूम तथा अग्नि का कार्य-कारण भाव निश्चित होता है।

विशेष—बौद्धमत के अनुसार व्याप्ति ज्ञान का निश्चय अन्वयविधि या व्यतिरेकविधि से नहीं होता, बल्कि तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) से होता है। कार्यकारणभाव का निश्चय करने के लिए कार्य तथा कारण का उपलम्भ (प्राप्ति) तथा अनुपलम्भ (अप्राप्ति) मिलाकर पञ्चकारणी बनती है। कार्यकारणभाव का निश्चय करने के ये पाँच अवयव हैं—

१. उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अप्राप्ति
२. कारण की प्राप्ति होने पर
३. कार्य की प्राप्ति
४. कारण की अप्राप्ति होने पर
५. कार्य की अप्राप्ति

जैसे (१) धूम की उत्पत्ति के पहले धूम नहीं रहता तथा (२) अग्नि के रहने पर (३) धूम रहता है लेकिन (४) अग्नि के न रहने पर (५) धूम भी नहीं रहता।

इन पाँच प्रकारों से धूम तथा अग्नि का कार्यकारणभाव निश्चित होता है।

(४. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान)

तथा तादात्म्यनिश्चयेनाप्यविनाभावो निश्चीयते। 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत्' स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। अप्रवृत्ते तु बाधके भूयः सहभावोपलम्भेऽपि व्यभिचारशङ्कायाः को निवारयिता? शिंशपावृक्षयोः तादात्म्यनिश्चयो 'वृक्षोऽयं शिंशपेति' समानाधिकरण्यबलादुपपद्यते। न ह्यत्यन्त

भेदे तत्संभवति। पर्यायत्वेन युगपत्प्रयोगायोगात्। नाप्यत्यन्तभेदे, गवाश्वयोरनुपलम्भात्। तस्मात्कार्यात्मानौ कारणात्मानौ अनुमापयत इति सिद्धम्।।

अनुवाद—इसी प्रकार तादात्म्य निश्चय से भी अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। "यदि शिंशपा वृक्षत्व का अतिक्रमण कर देगा, तो अपनी आत्मा को ही छोड़ देगा, इस प्रकार विपक्ष (शिंशपा ही वृक्ष है-इस तादाम्य के विरोधी पक्ष) में बाधक की प्रवृत्ति हो जायेगी। बाधक के प्रवृत्त न होने पर भी (शिंशपात्व तथा वृक्षत्व का) बार-बार सहभाव प्राप्त होने पर भी व्यभिचार शंका को कौन दूर करेगा? शिंशपा तथा वृक्ष का तादात्म्यनिश्चय "यह वृक्ष शिंशपा है" इस सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिकत्व) के बल से ही उत्पन्न होता है। अत्यन्त अभेद होने पर भी यह सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है, क्योंकि पर्यायों का एक साथ प्रयोग नहीं होता है। न ही अत्यन्त भेद होने पर सामानाधिकरण्य सम्मव है, क्योंकि गौ तथा अश्व का सामानाधिकरण्य प्राप्त नहीं होता। इसलिए कार्य तथा तादात्म्य कारण (तदुत्पत्तिसम्बन्ध) तथा तादात्म्य का अनुमान करते हैं।

विशेष—जो लोग शिंशपा तथा वृक्ष का तादात्म्य नहीं कहते, उनके मत में यह बाधक आता है कि "यदि शिंशपा वृक्षत्व को छोड़ेगा तो अपनी आत्मा ही छोड़ देगा।" इसलिए शिंशपा (एक पेड़ का प्रकार) तथा वृक्ष का तादात्म्य सम्बन्ध निश्चित होता है। सामानाधिकरण्य उन दोनों पदार्थों में नहीं होता जो या तो अत्यन्त अभिन्न हैं या अत्यन्त भिन्न। जैसे-"यह घट कलश है" ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है। घट तथा कलश अत्यन्त अभिन्न हैं। इसी प्रकार "यह गौ अश्व है" यह प्रयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि गौ तथा अश्व अत्यन्त भिन्न है। इसलिए "यह शिंशपा वृक्ष है" इस सामानाधिकरण्य के बल से भी वृक्ष तथा शिंशुपा का तादात्म्य सिद्ध होता है। सामानाधिकरण्य प्रयोग किसी सामान्य वस्तु तथा उसके प्रकार विशेष में होता है। जैसे वृक्षत्व सामान्य है उसका प्रकार विशेष शिंशपा है। इन दोनों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग होता है—"यह शिंशपा वृक्ष है।"

यह तादात्म्य सम्बन्ध भी व्याप्ति का निश्चय कराता है।" जहाँ-जहाँ शिंशपात्व है वहाँ-वहाँ वृक्षत्व है" यह व्याप्ति तादात्म्य सम्बन्ध से बनती है।

इस प्रकार तदुत्पत्ति तथा तादात्म्य सम्बन्ध से ही व्याप्ति का निश्चय होता है।

(५. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर)

यदि कश्चित्प्रामाण्यमनुमानस्य नाङ्गीकुर्यात् तं प्रति ब्रूयात्–अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते, तत्र न किंचन साधनमुपन्यस्यते, उपन्यस्यते वा? न प्रथमः। अशिरस्कवचनस्योपन्यासे साध्यासिद्धेः।

'एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्।'

इति न्यायात्। नापि चरमः। अनुमानं प्रमाणं न भवतीति ब्रवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्।

अनुवाद—यदि कोई व्यक्ति अनुमान के प्रामाण्य को नहीं मानता, तो उससे

कहना चाहिये। "अनुमान प्रमाण नहीं होता है" केवल इतना ही आप कहते हैं, उसमें कोई हेतु नहीं दिखाते या दिखाते हैं। प्रथम विकल्प (हेतु नहीं दिखाना) नहीं हो सकता क्योंकि बिना सिर (पैर) की बात को स्वीकार करने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

अकेली प्रतिज्ञा (बिना हेतु की प्रतिज्ञा) प्रतिज्ञात (साध्य) वस्तु को सिद्ध नहीं करती। यह न्याय है।

दूसरा विकल्प भी नहीं हो सकता। "अनुमान प्रमाण नहीं होता है" यह कहते हुए शब्द प्रमाण को स्वीकार न करने वाले आपके द्वारा दूसरे शास्त्र (न्यायशास्त्र) में प्रमाण के रूप में स्वीकृत शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हुए अपने ही वचन का विरोध किया है जैसे कि 'मेरी माता बन्ध्या है' (इस वचन में व्याघात है)।

विशेष—बौद्धों ने अनुमान प्रमाण को न मानने वालों से दो प्रकार से प्रश्न किया है तथा दोनों ही प्रकारों में प्रतिपक्षी का खण्डन ही होता है। अनुमान प्रमाण नहीं होता ऐसी बिना हेतु की प्रतिज्ञा कथमपि मान्य नहीं है। बिना हेतु के साध्य सिद्ध होता ही नहीं। यदि प्रतिपक्षी हेतु उपस्थित करने लगे तब तो उसने अनुमान प्रमाण को स्वीकार ही कर लिया, फिर प्रतिपक्षी खण्डन किसका कर रहा है?

दूसरी बात यह है कि अनुमान प्रमाण के निराकर्ता जब यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अनुमान प्रमाण नहीं होता' इसका तात्पर्य है न्यायादि द्वारा स्वीकृत अनुमान को शब्दप्रमाण से मानकर ही वे कहते हैं "अनुमान प्रमाण नहीं होता" अर्थात् प्रतिपक्षी शब्द प्रमाण को भी मान रहे हैं जबकि वे तो पहले ही कर चुके हैं कि हम शब्द को नहीं मानते। इस तरह अपनी ही बात को स्वयं ही काटने की स्थिति हो जाती है। जैसे कोई कहे "मेरी माता बन्ध्या है" यह अपने ही वचन का व्याघात है उसी प्रकार प्रतिपक्षी के वचन में 'वदतोव्याघात' दोष है।

किं च प्रमाणतदाभासव्यवस्थापनं तत्समानजातीयत्वादिति वदता भवतैव स्वीकृतं स्वभावानुमानम्। परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिङ्गेनेति ब्रुवता कार्यलिङ्गकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या कश्चिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिङ्गकमनुमानम्। तथा चोक्तं तथागतैः—

२. प्रमाणान्तरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।। इति।

पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते।

अनुवाद—और "प्रमाण तथा प्रमाणाभास की व्यवस्था होती है उसके समान जातीय ज्ञान के कारण" यह कहते हुए आपने ही स्वभावानुमान स्वीकार किया है। "विरोधियों की विप्रतिपत्ति का ज्ञान उनके वचनरूप हेतु से होता है" यह कहते हुए आपने कार्य लिङ्गक अनुमान स्वीकार किया है। अनुपलब्धि के कारण किसी पदार्थ का निषेध करते हुए आपने अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान को स्वीकार किया है। जैसा कि भगवान् बुद्ध के अनुनायियों ने कहा है—अन्य प्रमाण की सामान्यस्थिति (सजातीयता) के कारण (समानजातीय हेतुक, अनुमान से) दूसरे के मत की गति लगाने से (वचन हेतुक अनुमान)

तथा किसी वस्तु का प्रतिषेध करने के कारण (अनुपलब्धि हेतुक अनुमान) प्रत्यक्षातिरिक्त (अनुमान) प्रमाण भी है। (अनुपलब्धि हेतुक अनुमान)

इस पर विद्वानों में अत्यधिक विचार किया है इसलिए ग्रन्थ गौरव के भय से यहीं रुकते हैं।

विशेष—किसी ज्ञान को प्रमाण इसलिए कहते हैं क्योंकि उसके समान ज्ञान पहले भी हो चुका है अर्थात् समान जातीन् ज्ञान पूर्व में होने के कारण हम वर्तमान ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। इसी प्रकार प्रमाणाभास भी उसी ज्ञान को कहते हैं जिसके समान प्रमाणाभास ज्ञान पूर्व में हो चुका है। इस प्रकार समान जातीय ज्ञान के कारण ही प्रमाण तथा प्रमाणाभास की व्यवस्था लगायी जाती है, तो फिर अनुमान से परहेज क्यों? यही तो स्वभावानुमान है।

चूंकि बौद्धमत में शब्द तथा अनुपलब्धि प्रमाण नहीं माने जाते इसलिये उन दोनों का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हुए अनुमान विरोधी का खण्डन करते हैं। अनुमान न मानने वाला कहे कि हमें विरोधी की विप्रतिपत्ति (विपरीत बातों) का ज्ञान उनके वचनों से होता है अर्थात् ''वचन'' हेतु देकर ''विप्रतिपत्ति'' साध्य की सिद्धि की जा रही है। यही तो कार्यलिङ्गक अनुमान है। कार्य से कारण का अनुमान वचन कार्य है तथा विप्रत्तिपत्ति कारण।

किसी पदार्थ के दिखलाई न पड़ने से उसकी असत्ता का अनुमान लगाते है यह अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान है।

इन्हीं तीनों अनुमानों (समानजातीयत्व हेतुक अनुमान, वचनहेतुक अनुमान तथा अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान) का विवेचन श्लोक में किया गया है।

(६. बौद्धदर्शन के चार भेद- भावना- चतुष्टय)

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते। यद्यपि भगवान्बुद्धः एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपर-स्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावना-चतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम्।

अनुवाद—वे बौद्ध लोग चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ को कहते हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक-इन चारों नामों से प्रसिद्ध वे बौद्ध लोग क्रमशः सर्वशून्यत्व, बाह्यार्थशून्यत्व, बाह्यार्थानुमेयत्व तथा बाह्यार्थप्रत्यक्षत्व सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। यद्यपि उपदेश देने वाले भगवान् बुद्ध एक ही थे, तथापि बोद्धव्य शिष्यों के बुद्धिभेद से बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय बन गये। जैसे–''सूर्यास्त हो गया'' यह कहने पर जार (उपपति), चोर तथा शिष्य आदि अपने-अपने अभीष्ट के अनुसार अभिसरण (प्रेयसी से मिलने के लिये जाना), धन चुराना तथा सदाचार आदि का समय समझ जाते हैं। (उसी तरह) सब कुछ क्षणिक है, क्षणिक है, सब कुछ दुःख है, दुःख है सब कुछ

स्वलक्षण है, स्वलक्षण है तथा सब कुछ शून्य है शून्य है–इस प्रकार की चार भावनाओं का उपदेश दिया गया है-यह देखना चाहिये।

विशेष—यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को समान उपदेश दिया था, लेकिन शिष्यों की अपनी-अपनी बुद्धि के कारण उन्होंने उपदेशों को ग्रहण किया। इसलिए बौद्धमत के चार सम्प्रदाय बन गये। जैसे–''सूर्यास्त हो गया'' इस वाक्य के अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय अधोलिखित है–

(१) वैभाषिक (सर्वशून्यवादी)—यह शून्यवाद मानता है। ''सब कुछ शून्य है'' न तो बाह्य पदार्थ है न ही आन्तरिक विज्ञान। यह शून्यवाद अभाववाद भी नहीं है बल्कि शून्य से अनिर्वचनीय तत्त्व का बोध होता है। सभी बाह्य वस्तुएँ तथा आन्तरिक विज्ञान न तो सत् है, न ही असत्, न ही सदसत् है और न ही असन्नासत् अर्थात् दोनों से परे भी नहीं। यह चतुष्कोटि से परे शून्य है।

शून्यवाद आचार्य शङ्कर के अद्वैतवेदान्त के समान है। वेदान्त में माया को भी सत् असत् से परे अनिर्वचनीय माना गया है।

(२) योगाचार (विज्ञानवादी-बाह्यार्थशून्यवादी)—इनके अनुसार केवल विज्ञान की ही सत्ता है। सभी वस्तुएँ ज्ञान के रूप में ही भासती हैं। अतः ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता है। बाह्य समस्त विषय असत्य हैं, भ्रमवत् हैं। चित्त, मन, विज्ञप्ति-ये सभी विज्ञान के के ही पर्याय हैं। चेतनक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यही चित्त कहलाता है, मननक्रिया करने से वही मन है, विषयों को ग्रहण करने के कारण वही विज्ञान कहलाता है। आलयविज्ञान भी विज्ञान का ही प्रकार है। यह मत भी वेदान्त से कुछ-कुछ मिलता है। वहाँ भी ज्ञानरूप ब्रह्म को ही 'सत्य' माना गया है तथा संसार को 'असत्य' कहा गया है–''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'' योगाचारी बौद्ध भी यही कहते है–सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं-सब कुछ स्वलक्षण (अर्थात् ज्ञान) ही है।

(३) सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवादी)—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ तथा आन्तरिक विज्ञान दोनों को सत्य मानते हैं। लेकिन बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता। उनके ज्ञान के लिए अनुमान की आवश्यकता है। क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक है, जब तक इन्द्रियों का बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होकर उसका ज्ञान होता है तब तक तो वह पदार्थ अतीत हो चुका रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों का चित्र चित्त पर खींच जाता है। इसी चित्र से बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। यही है बाह्यार्थानुमेयता का सिद्धान्त। ये ''सर्वं दुःखं दुःखम्'' सिद्धान्त को मानते हैं। संसार के समस्त पदार्थ दुःखदायी ही हैं।

(४) वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी)—इनका मत है ''सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्'' सब कुछ क्षणिक है। समस्त बाह्यपदार्थ प्रत्यक्ष तथा क्षणिक हैं। सौत्रान्तिकों ने बाह्यपदार्थों की सत्ता को चित्तसापेक्ष कहा था लेकिन वैभाषिक बाह्यपदार्थ को चित्तनिरपेक्ष कहते हैं। उनका मानना है कि बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है तथा चित्त की भी स्वतन्त्र सत्ता है। यदि कोई वस्तु बाहर प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर केवल चित्त के ज्ञान से उसका अनुमान भी कैसे हो सकता है। अतः बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।

(७. क्षणिकत्व की भावना–अर्थक्रियाकारित्व)

तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेनानुमातव्यं-यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सन्तश्चामी भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः, अर्थक्रिया-कारित्व-लक्षणस्य सत्त्वस्य नीलादिक्षणानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाकमव्यावृत्तौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्। न च क्रमाक्रमा-भ्यामन्यः प्रकारः संभवति।

३. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ।। (कुसु० ३।८)

इति न्यायेन व्याघातस्योद्धटत्वात्।।

अनुवाद—उनमें क्षणिकत्व का अनुमान नीलादिक्षणों की सत्ता से होना चाहिये–जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे-मेघमण्डल, उसी प्रकार ये सभी भाव (पदार्थ) भी सत् हैं (इसलिये क्षणिक हैं) यहाँ 'सत्' हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अर्थक्रिया को करने वाले सत्त्व की नीलादिक्षणों में (नीलादि क्षणिक पदार्थों में) प्रत्यक्षसिद्धि है। व्यापक को हटाने पर व्याप्य भी हट जाता है–इस न्याय से व्यापक (क्रम तथा अक्रम) को हटाने पर सभी क्षणिक वस्तुओं से सत्व की व्यावृत्ति होने से (क्षणिकत्व) सिद्ध है। यह अर्थक्रियाकारित्व (कार्य को करने की क्षमता रखना) क्रम तथा अक्रम से व्याप्त है। क्रम तथा अक्रम के अतिरिक्त तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं हैं।

"आपस में विरोध होने पर तीसरे किसी प्रकार की स्थिति नहीं रहती है। केवल उक्ति मात्र से विरोध होने पर भी विरोधियों में कभी एकता नहीं रहती" (कुसु० ३/८)

इस न्याय से विरोध आ जाने के कारण भी (तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं है)

विशेष—नीलादि पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने के लिए बौद्ध यह अनुमान करते हैं—नीलादि पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं। इसमें व्याप्ति है-जो-जो सत् है, वह-वह क्षणिक हैं।

नील का तात्पर्य है नीले रंग का पदार्थ। जैसे–नीला घट आदि।

यह नियम है कि यदि व्यापक नहीं है, तो व्याप्य भी नहीं रहेगा। क्रम तथा अक्रम व्यापक हैं तथा 'सत्' व्याप्य है। इसलिए जहाँ क्रम तथा अक्रम नहीं है वहाँ सत् भी नहीं रहेगा। जैसे-अक्षणिक पदार्थ में क्रमाक्रम नहीं है अतः, वहाँ सत् भी नहीं है। 'सत्' का तात्पर्य है अर्थ- क्रियाकारित्व। अर्थात् कार्य करने की क्षमता का होना। क्रम का तात्पर्य है–पौर्वापर्य तथा अक्रम का तात्पर्य है–एक साथ, बिना किसी पौर्वापर्य के। किसी वस्तु की सत्ता या क्रमिक हो सकती है, या फिर अक्रमिक हो सकती है। इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार नहीं है। क्रम तथा अक्रम के स्थायी पदार्थ में न रहने से उनमें सत्ता भी नहीं रहती है। क्रमाक्रम सत्ता में भी रहते हैं।

अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य है कार्य को करने की क्षमता रखना। जितने सत् पदार्थ हैं, वे सभी अर्थ क्रियाकारी हैं। जैसे-बीज क्षणिक है, क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है अर्थात् अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ है।

तौ च क्रमाक्रमौ स्थायिनः सकाशाद् व्यावर्तमानौ अर्थक्रियामपि व्यावर्तयन्तौ क्षणिकत्वपक्ष एव सत्त्वं व्यवस्थापयतः इति सिद्धम्।

अनुवाद—ये दोनों क्रमाक्रम स्थायी पदार्थ से अलग होकर अर्थक्रिया को भी स्थायी पदार्थ से अलग करके क्षणिकत्व के पक्ष में ही सत् को स्थापित करते हैं-यह सिद्ध होता है।

विशेष—जब स्थायी पदार्थ में क्रमाक्रम नहीं रहते तो अस्थायी पदार्थो में सत् भी कैसे रह सकता है, क्योंकि क्रमाक्रम व्यापक हैं और सत् व्याप्य है। जब कोई पदार्थ स्थायी है अर्थात् उसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई तो क्रम से या अक्रम से उत्पत्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए अस्थायी अर्थात् क्षणिक पदार्थों में ही सत्व अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व रहता है। स्थायी पदार्थ क्रम से या अक्रम से दोनों ही प्रकार अर्थक्रियाकारी नहीं है। स्थायी पदार्थ क्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं हैं यह दिखाया जा रहा है। अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं यह बात आगे दिखाई जायेगी।

(८. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नन्वक्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं किं न स्यादिति चेत्–तदयुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि-वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोः किम् अर्थक्रिययोः स्थायिनः सामर्थ्यमस्ति नो वा। आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव, यथा-सामग्री स्वकार्यं समर्थश्चायं भाव इति प्रसङ्गानुमानाच्च।

द्वितीये कदापि न कुर्यात्। सामर्थ्यमात्रानुबन्धित्वादर्थक्रियाकारित्वस्य। यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थं यथा हि शिलाशकलमङ्कुरे। न चैष वर्तमानार्थक्रियाकरणकाले वृत्तवर्तिष्यमाणे अर्थक्रिये करोतीति तद्विपर्ययाच्च।।

अनुवाद—अक्षणिक पदार्थ में क्या अर्थक्रियाकारित्व होता ही नहीं यदि ऐसा कहा जाए, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह पक्ष दोनों विकल्पों से असिद्ध हो जायेगा। जैसा कि–वर्तमान अर्थक्रिया के उत्पादन के समय अतीत तथा भविष्य की अर्थक्रिया को उत्पन्न करने में स्थायी पदार्थ का सामर्थ्य है या नहीं?

प्रथम पक्ष मानने पर (भूत तथा भविष्य) दोनों समय में (कार्योत्पादन को) हटा पाना सम्भव नहीं, क्योंकि समर्थ वस्तु (बिना कार्योत्पादन के) समय नहीं बिता सकती। जब जो वस्तु जिस कार्य को करने में समर्थ है, वह वस्तु उस समय वह कार्य करेगी ही। जिस प्रकार–सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करेगी ही। उसी प्रकार यह पदार्थ भी समर्थ हैं-यह प्रसङ्गानुमान होता है।

दूसरा पक्ष मानने पर तो स्थायी वस्तु कभी भी कार्योत्पादन नहीं कर सकता। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व तो सामर्थ्य पर ही निर्भर है। जो वस्तु जिस समय में जिस काम को नहीं करता, वह वस्तु उस समय उस काम को करने में समर्थ नहीं है। जैसे कि पत्थर अंकुर उगाने में समर्थ नहीं है। और यह पदार्थ वर्तमान काल में कार्योत्पादन के समय भूत तथा भविष्य के कार्यों को उत्पन्न नहीं करेगा–यह प्रसंगानुमान का विपर्यय होता है।

विशेष—यदि स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य माना जाए तो स्थायी पदार्थ में यह सामर्थ्य त्रैकालिक मानना पड़ेगा। फिर स्थायी पदार्थ त्रिकाल में अर्थक्रिया करेगा यह आपत्ति आयेगी और यदि स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य न माना जाए तो किसी भी काल में स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया उत्पन्न नहीं करेगा।

९. *सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता*

ननु क्रमवत्सहकारिलाभात् स्थायिनोऽतीतानागतयोः क्रमेण करणमुपपद्यत इति चेत्-तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। सहकारिणः किं भावस्योपकुर्वन्ति न वा? न चेन्नापेक्षणीयास्ते। अकिञ्चित्कुर्वतां तेषां तादर्थ्यायोगात्। अथ भावस्तैः सहकारिभिः सहैव कार्यं करोति इति स्वभाव इति चेत्—अङ्ग! तर्हि सहकारिणो न जह्यात्। प्रत्युत पलायमानापि गले पाशेन बद्ध्वा कृत्यं कुर्यात्। स्वभावस्यानपायात्।

अनुवाद—यदि कोई कहे कि क्रम से युक्त सहकारी क्रिया के स्वीकार करने पर भूत तथा भविष्यकाल में स्थायी पदार्थ का क्रमशः अर्थक्रियाकारी होना सिद्ध होता है। यदि ऐसा कहें तो आपसे यह पूछा जा रहा है, आप बतलायें। सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं या नहीं? यदि उपकार नहीं करती तो उन सहकारी क्रियाओं की अपेक्षा नहीं है। कुछ भी उपकार न करने वाली सहकारी क्रियाओं का पदार्थ के लिए होना सम्भव नहीं है। यदि स्थायी पदार्थ उन सहकारी क्रियाओं के साथ ही कार्य करता है तो यह सहकारी कार्य स्थायी का स्वभाव ही है। यदि ऐसा कहें तो हे महाशय! तब तो स्थायी पदार्थ सहकारी क्रिया को छोड़ेगा ही नहीं। बल्कि भागने वाली सहकारी क्रिया को भी गले में फंदा डालकर अपना कार्य करेगा। क्योंकि अपने स्वभाव को कोई छोड़ नहीं सकता।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि सहकारी का साथ लेकर स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो सकता है। पूर्वपक्षी का खण्डन करने के लिए सिद्धान्त ने दो विकल्प दिये हैं–क्या सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं या नहीं? यदि सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार नहीं करती, तो फिर तो स्थायी पदार्थ को उन सहकारी कार्यों की आवश्यकता ही क्या है? फिर उन सहकारी कार्यों के बिना स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया कारी भी नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाए कि सहकारी क्रियाएँ, स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं, तो फिर तो सहकारी क्रिया स्थायी का स्वभाव ही है और स्वभाव मानने पर स्थायी पदार्थ सहकारी क्रियाओं को साथ लेकर निरन्तर अर्थक्रिया करता रहेगा। क्योंकि किसी के स्वभाव को उससे दूर नहीं किया जा सकता।

उपकारकत्वपक्षे सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा। भेदपक्ष आगन्तुकस्येव तस्य कारणत्वं स्यात्। न भावस्याक्षणिकस्य। आगन्तुकातिशयान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्कार्यस्य तदुक्तम्—

४. वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः।। इति।

अनुवाद—सहकारी क्रियाओं से स्थायी पदार्थ का उपकार मानने पर भी दो पक्ष उपस्थित होते हैं–क्या यह उपकार स्थायी पदार्थ से अलग है या अलग नहीं है? उपकार को स्थायी पदार्थ से अलग मानने पर अर्थ क्रिया के लिए उपकार को ही आगन्तुक के समान कारण मानना होगा न कि स्थायी भाव को अर्थक्रिया का कारण कहा जायेगा। क्योंकि आगन्तुकातिशय का कार्य के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक के कारण उस आगन्तुक का कारणत्व सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है–

वर्षा तथा धूप से आकाश के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा? उन दोनों का प्रभाव तो चमड़े पर होता है। इसलिए स्थायी पदार्थ को यदि चमड़े के समान कहा जाए तो वह अनित्य कहा जायेगा और यदि स्थायी पदार्थ को आकाश के समान कहा जाय तो वह निष्फल हो जायेगा।

विशेष—पूर्व में दो पक्ष उठाये गये थे कि सहकारी क्रिया स्थायी पदार्थ का उपकार करती है या नहीं। यदि सहकारी क्रिया से स्थायी पदार्थ का उपकार माना जाए तो फिर से दो पक्ष उपस्थित होते हैं कि उपकार स्थायी पदार्थ से अलग है या नहीं। यदि उपकार को स्थायी पदार्थ से अलग कहा जाए तो वह उपकार ही अर्थक्रिया का कारण होगा क्योंकि उपकार के आने पर स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया करता है (अन्वय) और उपकार के न आने पर स्थायी पदार्थ अर्थ—क्रिया नहीं करता (व्यतिरेक) इसलिए उपकार या अतिशय आगन्तुक के समान हुआ और वह आगन्तुक ही अर्थक्रिया का कारण बनेगा न कि स्थायी पदार्थ।

इसी बात के समझाने के लिए उदाहरण दिया गया है कि वर्षा का फल चमड़े पर दिखलाई पड़ता है आकाश पर नहीं। यदि स्थायी पदार्थ को चमड़े की तरह विकारी माना जाए अर्थात् स्थायी पदार्थ से अर्थक्रिया मानी जाए तब तो उसका स्थायित्व ही समाप्त हो जाएगा, उसे अनित्य कहना पड़ेगा और यदि स्थायी पदार्थ को आकाश की तरह कहा जाए तब तो स्थायी पदार्थ निष्फल माना जाएगा। उसमें विकार मानने या न मानने से कोई फर्क नहीं पड़ता। वह कदापि अर्थक्रियाकारी नहीं है और यही तो बौद्धों का सिद्धान्त मत है। वे स्थायी पदार्थ को अर्थक्रियाकारी नहीं मानते।

(१०. अतिशय द्वारा दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष)

किं च, सहकारिजन्योऽतिशयः किमतिशयान्तरमारभते न वा उभयथाऽपि प्रागुक्तदूषणपाषाणवर्षणप्रसङ्गः। अतिशयान्तरारम्भपक्षे बहुमुखानवस्थादौःस्थ्यमपि स्यात्। अतिशये जनयितव्ये सहकार्यन्तरापेक्षायां तत्परम्परापात इत्येकानवस्थाऽऽस्थेया।

तथा सहकारिभिः सलिलपवनादिभिः पदार्थसार्थैराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमभ्युपेयम्। अपरथा तदभावेऽप्यतिशयः प्रादुर्भवेत्।

अनुवाद—और सहकारी से उत्पन्न उपकार (अतिशय) क्या दूसरे उपकार (अतिशय) को प्रारम्भ करता है या नहीं? दोनों ही प्रकार से पूर्वोक्त दोषरूपी पाषाण वर्षा होगी। यदि उपकार उपकारान्तर को आरम्भ करता है यह पक्ष मानें तो बहुत प्रकार से अनवस्था रूपी दोष होगा। उपकार से उपकारान्तर मानने पर पुनः सहकारी कार्य की अपेक्षा होने से पुनः सहकारी कार्य सम्बन्धी सारी परम्परा (अर्थात् सहकारी कार्य जन्य अतिशय पुनः दूसरे अतिशय को प्रारम्भ करेगा इत्यादि) आ जायेगी इसलिए अनवस्था दोष आ जायेगा।

ऐसा मानने पर जल, पवन आदि सहकारी पदार्थों के द्वारा बीज में उपकार आ जाने पर बीज को ही उत्पादक मानना चाहिये। अन्यथा बीज के न रहने पर भी अतिशय हो सकता है।

विशेष—यदि सहकारी पदार्थों से उत्पन्न उपकार दूसरे उपकार को प्रारम्भ करता है यह मानेंगे तो अनवस्था दोष आयेगा। एक को सिद्ध करने के लिए दूसरे की कल्पना, दूसरे के लिए तीसरे की कल्पना, तीसरे के लिए चौथे की कल्पना ऐसी अनन्त परम्परा ही अनवस्था दोष है।

यह अवस्था दोष आगे विस्तारपूर्वक दिखलाया जाएगा। दूसरी बात यह है कि बीज में अतिशय आने बीज को उत्पादक कहना पड़ेगा। लेकिन इसके पूर्व के प्रसंग में अतिशय को ही अर्थक्रिया का कारण माना गया है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध आ जायेगा।

(११. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं० १)

बीजं चातिशयमादधानं, सहकारिसापेक्षमेवाधत्ते। अन्यथा सर्वदोपकारापत्तौ अङ्कुरस्यापि सदोदयः प्रसज्येत तस्मादतिशयार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिः अतिशयान्तरमाधेयं बीजे। तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन सहकरिसापेक्षस्य बीजस्य जनकत्वे सहकारिसम्पाद्यबीजगतातिशयानवस्था प्रथमा व्यवस्थिता।

अनुवाद—बीज अतिशय को ग्रहण करते हुए पुनः सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। अन्यथा सदा बीज से उपकार मानने पर अङ्कुर का भी सदा ही उदय होने लगेगा। इसलिए अतिशय की अपेक्षा करने वाले सहकारियों को बीज में दूसरे अतिशय का आधान करना चाहिये। इस प्रकार से उपकार हो जाने पर तथा पूर्व न्याय से सहकारी की अपेक्षा रखने वाले बीज के उत्पादक बनने पर सहकारी कारणों से सम्पादित बीज में अतिशय की प्रथम अनवस्था आ जाती है।

विशेष—यह पहली अवस्था दिखाई गयी है। बीज उपकार के लिए सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। उपकार के लिए अपेक्षित सहकारी कारण से बीज में दूसरे उपकार का आधान होता है। वह उपकार पुनः सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। सहकारी कारण से फिर से बीज में उपकार आता है। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

(११. अनवस्था सं० २)

अथोपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणोऽपि बीजादिनिपेक्षं कार्यं जनयति, तत्सापेक्षं वा। प्रथमे बीजादेरहेतुत्वमापतेत्। द्वितीयेऽपेक्ष्यमाणेन बीजादि-नोपकारेऽतिशय आधेयः। एवं तत्र तत्रापीति बीजादिजन्यातिशयनिष्ठातिशय-परम्परापात इति द्वितीयानवस्था स्थिरा भवेत्।

अनुवाद—अब कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित जो उपकार है, वह बीजादि से निरपेक्ष होकर कार्य को उत्पन्न करता है या बीजादि की अपेक्षा रखकर? (कार्य को उत्पन्न करता है) प्रथम पक्ष मानने पर बीजादि को कारण नहीं कह सकते। द्वितीय पक्ष मानने पर अपेक्षित बीजादि के द्वारा उपकार में अतिशय मानना पड़ेगा। उस अतिशय में फिर अतिशय मानना पड़ेगा–इस प्रकार बीज से उत्पन्न अतिशय निष्ठ अतिशय की परम्परा आ पड़ेगी-यह दूसरी अनवस्था स्थिर होगी।

विशेष—यदि उपकार को बीज की आवश्यकता नहीं फिर तो बीज को को कारण मानना ही व्यर्थ है और यदि उपकार के द्वारा बीज में अतिशय मानते हैं तो उस अतिशय में फिर अतिशय मानना पड़ेगा–इस प्रकार अनवस्था आयेगी। यह दूसरी अवस्था है।

(११. अनवस्था सं० ३)

एवमपेक्ष्यमाणेनोपकारेण बीजादौ धर्मिण्युपकारान्तरमाधेयम्–इत्यु-पकाराधेयबीजाश्रयातिशयपरम्परापात इति तृतीयानवस्था दुरवस्था स्यात्।

अनुवाद—इस प्रकार अपेक्षित उपकार के द्वारा बीजादि धर्मी में भी दूसरा उपकार मानना पड़ेगा। इस प्रकार उपकार के आधेय बीज के आश्रय में अतिशय की परम्परा आ पड़ेगी-यह तीसरी अनवस्था कठिन हो जायेगी।

विशेष—उपकार के द्वारा बीज में दूसरा उपकार, उस उपकार के द्वारा फिर बीज में तीसरा उपकार–इस प्रकार की तीसरी अनवस्था है।

पूर्व में यह विषय चला था कि सहकारी स्थायी पदार्थ का उपकार करते हैं या नहीं? उपकार पक्ष में दो विकल्प किये गये–उपकार भाव (स्थायी पदार्थ) से भिन्न है या नहीं? भिन्न मानने पर ये तीन अनवस्था दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अब उपकार को स्थायी पदार्थ से अभिन्न मानने पर क्या होगा-यह आगे दिखला रहे हैं।

१२. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति

अथ भावादभिन्नोऽतिशयः सहकारिभिराधीयत इत्यभ्युपगम्येत, तर्हि प्राचीनो भावोऽनतिशयात्मा निवृत्तोऽन्यश्चातिशयात्मा कुर्वद्रूपादिपदवेदनीयो जायत इति फलितं ममापि मनोरथद्रुमेण। तस्मात्क्रमेण अक्षणिकस्य अर्थक्रिया दुर्घटा।

अनुवाद—यदि यह मानते हैं कि उपकार स्थायी पदार्थ से भिन्न नहीं है तथा सहकारी कारणों के द्वारा उपकार होता है तो प्राचीन स्थायी पदार्थ अतिशय नहीं है, इसलिए निवृत्त हो जायेगा। दूसरा स्थायी भाव अतिशय के रूप में कुर्वद्रूप (कार्योत्पादक वस्तु) के रूप में जाना जायेगा–इससे मेरा ही मनोरथ रूपी वृक्ष फलीभूत हो जायेगा। इसलिए क्रम से स्थायी पदार्थ की अर्थक्रिया सम्भव नहीं है।

विशेष—उपकार को भाव (स्थायी पदार्थ) से अभिन्न मानने पर यह कहना होगा कि स्थायी पदार्थ की अग्रिम अवस्था उपकार है और प्राचीन अवस्था स्थायी पदार्थ है। ऐसी स्थिति में प्राचीन अवस्था में स्थायीपदार्थ उपकार नहीं है तथा अतिशय (उपकार) बन जाने पर ही कार्योत्पादक होता है अर्थात् स्थायी पदार्थ कार्योत्पादक नहीं, बल्कि अतिशय रूप होने पर कार्योत्पादक है। फिर तो बौद्धों का सिद्धान्त मत (स्थायी पदार्थ कार्योत्पादक नहीं) ही फलीभूत हो रहा है। अभी तक यह सिद्ध किया गया कि स्थायी पदार्थ क्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं है। अब अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं यह बात बतलायी जा रही है।

१३. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना

नाप्यक्रमेण घटते। विकल्पासहत्वात्। तथाहि-युगपत्सकलकार्यकरणसमर्थः स्वभावस्तदुत्तरकालमनुवर्तते न वा? प्रथमे तत्कालवत्कालान्तरेऽपि तावत्कार्यकरणमापतेत्। द्वितीये स्थायित्ववृत्त्याशा मूषिकभक्षितबीजादौ अङ्कुरादिजननप्रार्थनामनुहरेत्।

अनुवाद—अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों विकल्पों को सहन नहीं कर सकता। क्योंकि-एक साथ सभी कार्य करने में समर्थ स्वभाव उस कार्य की उत्पत्ति के बाद भी रहता है या नहीं? प्रथम विकल्प मानने पर इस काल के समान ही कालान्तर में भी स्थायी पदार्थ कार्य करने लगेगा। दूसरा विकल्प मानने पर भाव के स्थायित्व होने की आशा चूहे के द्वारा खाये हुए बीज से अङ्कुर उत्पन्न करने की प्रार्थना के समान होगी।

विशेष—स्थायी पदार्थ को अक्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं कह सकते हैं। यदि स्थायी पदार्थ को कालान्तर में कार्योत्पत्ति में समर्थ मानते हैं तो वह लगातार कार्योत्पत्ति करता ही रहेगा। यदि कहें कि वह स्थायी पदार्थ एक काल में कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है फिर दूसरे काल कार्योत्पत्ति नहीं करता तब तो स्थायी पदार्थ का स्थायित्व ही समाप्त हो जाएगा। वह क्षणिक कहा जाने लगेगा। जिस प्रकार चूहे के द्वारा खाये गये बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करते उसी प्रकार कार्योत्पत्ति करके निवृत्त पदार्थ को स्थायी कहना भी उचित नहीं है।

१३. क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय

यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं तन्नाना, यथा शीतोष्णे। विरुद्धधर्माध्यस्तश्चायमिति जलधरे प्रतिबन्धसिद्धिः। न चायमसिद्धो हेतुः। स्थायिनि कालभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोः प्रसङ्गतद्विपर्ययसिद्धत्वात्। तत्रासामर्थ्यसाधकौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ प्रागुक्तौ।

अनुवाद—जो पदार्थ विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हैं, वे अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे-शीत और उष्ण। इसलिये यह स्वभाव भी विरुद्ध धर्म से युक्त है, इस प्रकार मेघ में व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है। यह हेतु (विरुद्ध धर्म से युक्त होना) असिद्ध नहीं है। स्थायी प्रदार्थ में कालभेद से सामर्थ्य तथा असामर्थ्य दोनों की सिद्धि प्रसङ्गानुमान तथा उसके विपर्ययानुभाव से होती है। इन दोनों (सामर्थ्य तथा असमार्थ्य) में असामर्थ्य का साधक प्रसङ्ग तथा उसका विपर्यय पहले ही कहा जा चुका है।

विशेष—जिस वस्तु में विरुद्ध धर्म होते हैं, वह वस्तु अनेक प्रकार की होती है जैसे मेघ में काला, सफेद आदि अनेक विरुद्ध धर्म दिखलाई पड़ते हैं इसलिये मेघ अनेक प्रकार का है। इस अनुमान से स्थायी पदार्थ को भी विरुद्ध धर्म से युक्त तथा अनेकविध माना गया है। स्थायी पदार्थ में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य को सिद्ध करने के लिए प्रसङ्गानुमान तथा प्रसङ्गानुमान का विपर्यय होता है। इसमें असामर्थ्य साधक प्रसङ्ग तथा विपर्यय पहले (८ वाँ परिच्छेद) में हो चुका है। अब सामर्थ्य साधक प्रसंग और तद्विपर्यय आगे दिखलायेंगे।

असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती। असिद्ध हेतु तीन प्रकार का होता है—

१. आश्रयासिद्ध २. स्वरूपासिद्ध ३. व्याप्यत्वासिद्ध

१. आश्रयासिद्ध-जैसे–गगनारविन्द सुगन्धित है, क्योंकि वह अरविन्द है।

यहाँ आश्रय (पक्ष) ही नहीं हैं क्योंकि गगनारविन्द होता ही नहीं, इसलिए आश्रयासिद्ध हेतु है।

२. स्वरूपासिद्ध–जैसे शब्द गुण है, चाक्षुष होने के कारण। यहाँ हेतु चाक्षुषत्व शब्द में होता ही नहीं। इसलिये स्वरूपासिद्ध हेतु है।

२. व्याप्यत्वासिद्ध–उपाधि से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। उपाधि की चर्चा पूर्व में (चार्वाक दर्शन परि० ११) हो चुकी है। जैसे-पर्वत पर धूम है क्योंकि वहाँ अग्नि है। यहाँ पर "जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है" यह व्याप्ति तभी बन सकती है जब "आर्द्रेन्धनसंयोग" उपाधि हो। अत: पूर्वोक्त अनुमान में अग्नि हेतु सोपाधिक है इसलिए व्याप्यत्वासिद्ध हेतु है।

१३. ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय

सामर्थ्यसाधकावभिधीयते। यद्यदा यज्जननासमर्थं तत्तदा तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम् असमर्थश्चायं वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीता-नागतयोरर्थक्रियायोरिति प्रसङ्गः। यद्यदा यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थं यथा सामग्री स्वकार्ये। करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थक्रिये भाव इति प्रसङ्गव्यत्ययो विपर्ययः।

अनुवाद—अब स्थायीपदार्थ में सामर्थ्यसाधक अनुमान (प्रसंगानुमान तथा उसका विपर्यय) बताया जा रहा है। जो जब जिसको उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, वह तब वह कार्य उत्पन्न नहीं करता। जैसे-पत्थर का टुकड़ा अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसलिये वह अंकुर उत्पन्न नहीं करता। उसी तरह यह भाव भी वर्तमान अर्थक्रिया को उत्पन्न करने के समय भूत तथा भविष्य की अर्थक्रिया को भी उत्पन्न करता है। यह अप्रसङ्गानुमान है। जो वस्तु जब जो कार्य करता है यह प्रसङ्गानुमान है। जो वस्तु जब जो कार्य करता है, वह तब उस कार्य में समर्थ है जैसे सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करती है। यह भाव भी अतीत और अनागत काल में उस समय की अर्थक्रिया को करता है यह प्रसङ्ग का व्यत्यय अर्थात् विपर्यय है।

विशेष—व्याप्ति दो तरह की मानी गयी है—

१. अन्वयव्याप्ति—यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः।

२. व्यतिरेकव्याप्ति—यत्र-यत्र अग्नि: नास्ति तत्र-तत्र धूम: नास्ति।

स्थायी भाव में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य सिद्ध करने के लिए चार अनुमान दिखाये गये है। पूर्व में (८ वाँ परिच्छेद) असामर्थ्य साधक अनुमानद्वय दिखाये गये थे—

यद् समर्थं तत् करोति (असामर्थ्य साधक व्यतिरेक व्याप्ति)

असामर्थ्याभाव=सामर्थ्य=व्याप्य,

अकरणाभाव=करण=व्यापक

दूसरे शब्दों में ''यत् असमर्थ नास्ति तत् 'न करोति' इति नास्ति।'' इसकी अन्वयव्याप्ति है-

यत् न करोति तद् असमर्थम् (असामर्थ्य साधिका अन्वयव्याप्ति, अकरण=व्याप्य असामर्थ्य=व्यापक)।

सामर्थ्यसाधक अन्वयव्यतिरेक यहाँ दिखाया गया है—सामर्थ्य साधक अन्वय व्याप्ति—

यत्करोति तत्समर्थम् (करण=व्याप्य, सामर्थ्य=व्यापक)

सामर्थ्यसाधक व्यतिरेक व्याप्ति—

यत् असमर्थ तत् न करोति (सामर्थ्याभाव=व्याप्य, करणाभाव=व्यापक)

१४. निष्कर्ष-क्षणिकवाद की स्थापना

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या, व्यापकानुपलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिकं, प्रसङ्गतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम्। तदुक्तं ज्ञानश्रिया-

५. **यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी**
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्।
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति।।

अनुवाद—इस प्रकार विपक्ष में क्रम तथा अक्रम की व्यावृत्ति होने से, व्यापक (क्रमाक्रम) के न रहने से व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त तथा प्रसङ्ग एवं प्रसङ्गविपर्यय के कारण अन्वयव्याप्ति से युक्त सत्त्व को क्षणिकत्व पक्ष में ही व्यवस्थापित किया जाएगा यह सिद्ध है। जैसा कि ज्ञानश्री ने कहा है—जो सत् है वह क्षणिक है जैसे-बादल। और ये भाव भी सत् है (अत: क्षणिक हैं) अर्थकर्म की जो शक्ति है वही सत् हैं क्योंकि (सत् प्रत्यक्ष) प्रमाण से सिद्ध (स्थिर) नहीं है। न ही यह सत्ता एक ही प्रकार की है अन्यथा दूसरे के द्वारा दूसरे की क्रिया हो सकती है। दोनों ही प्रकार से क्षणिक पदार्थों के भंग (विनाश) की सिद्धि होती है। अत: अन्तत: (क्षणिकत्व) ही सिद्ध होता है।

विशेष—पूर्व में (परि०७) यह बताया गया था कि जो सत् है वह क्षणिक है- इस व्याप्ति के द्वारा सभी पदार्थों के क्षणिक होने का अनुमान किया जाता है। क्रमाक्रम की सत् के साथ व्याप्ति है, क्रमाक्रम व्यापक हैं और सत् व्याप्य। अत: जहाँ-जहाँ क्रमाक्रम नहीं हैं वहाँ-वहाँ सत् भी नहीं है। इस व्यतिरेक के द्वारा भावों में क्रमाक्रम न होने से सत्व भी हट जाता है। साथ ही अन्वय व्याप्ति (जो सत् है वह क्षणिक है) के द्वारा क्षणिक पदार्थों में सत्त्व स्थापित किया जाता है।

अर्थकर्म की शक्ति अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व ही सत् है। सत्त्व यानि अर्थक्रियाकारित्व एक ही प्रकार का नहीं बल्कि अनेक प्रकार का है। सभी क्षणिक पदार्थों में भिन्न-भिन्न अर्थ- क्रियाकारित्व है, इसीलिए सभी से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है, नहीं तो सभी से सभी कार्य उत्पन्न हो जाते। इस प्रकार अन्ततः सभी पदार्थ क्षणिक हैं यह सिद्ध होता है।

परि० ६ में बौद्धों के जो चार सम्प्रदाय बताये गये थे, उनमें से क्षणिकवाद (वैभाषिक–बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) की स्थापना यहाँ तक की गयी है। अब सामान्यवाद का खण्डन प्रारम्भ हो रहा है।

१५. *सामान्य का खण्डन*

न च कणभक्षाक्षचरणादिपक्षकक्षीकारणे सत्तासामान्ययोगित्वमेव सत्त्वमिति मन्तव्यम्। सामान्यविशेषसमवायानामसत्त्वप्रसङ्गात्।

न च तत्र स्वरूपसत्तानिबन्धनः सद्व्यवहारः। प्रयोजकगौरवापत्तेः। अनुगतत्वाननुगतत्वविकल्पपराहतेश्च। सर्षपमहीधरादिषु विलक्षणेषु क्षणेष्वनुगतस्याकारस्य मणिषु सूत्रवद्, भूतगणेषु गुणवच्चाप्रतिभासनाच्च।

अनुवाद—कणाद तथा अक्षपाद आदि लोगों का मत स्वीकार करने पर सत्तासामान्य ही सत्त्व है ऐसा नहीं मानना चाहिये। अन्यथा सामान्य, विशेष तथा समवाय के असत्त्व होने का प्रसङ्ग आ जायेगा।

उनमें (सामान्य, विशेष तथा समवायमें) अपने रूप की सत्ता के कारण "सत्ता" का व्यवहार होता है यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा कहने पर बहुत से प्रयोजकों की आवश्यकता पड़ेगी तथा अनुगतत्व और अननुगतत्व विकल्पों से खण्डन भी हो जायेगा। सरसों और पर्वतादि विलक्षण पदार्थों में अनुगत आकार का मणियों में सूत्र की तरह तथा प्राणियों में गुणों की तरह कोई आकार दिखलाई नहीं पड़ता।

विशेष—न्याय मत में सामान्य दो प्रकार का माना गया है—पर सामान्य तथा अपर सामान्य। पर सामान्य को ही 'सत्ता' कहा गया है। सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में व्याप्त रहती है। यदि बौद्ध समस्त 'सत्त्व' (अर्थक्रियाकारित्व) को सत्ता मान लिया जाए फिर तो सामान्य, विशेष तथा समवाय में बौद्ध सम्मत सत्त्व को नहीं मानना पड़ेगा।

उन तीनों सामान्य, विशेष, समवाय में केवल अपना रूप होने से सत्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि फिर सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म-तीनों में अनुगत है, यह कहना अनुपपन्न हो जायेगा। सामान्य, विशेष तथा समवाय मात्र इन तीनों में ही अनुगत कोई एक धर्म दिखलाई नहीं पड़ता। अनुगत का अर्थ है=समवेत=समवाय सम्बन्ध से रहने वाला।

किं च सामान्यं सर्वगतं स्वाश्रयसर्वगतं वा? प्रथमे सर्ववस्तुसङ्करप्रसङ्गः। अपसिद्धान्तापत्तिश्च। यतः प्रोक्तं प्रशस्तपादेन–'स्वविषयसर्वगतमिति'।

किं च विद्यमाने घटे वर्तमानं सामान्यमन्यत्र जायमानेन सम्बध्यमानं तस्मादागच्छत्सम्बध्यते अनागच्छद्वा? आद्ये द्रव्यत्वापत्तिः। द्वितीये सम्बन्धानुपपत्तिः।

अनुवाद—और सामान्य सबमें है या केवल अपने आश्रय में है? प्रथम पक्ष मानने पर सब वस्तुओं के संकर (मिलने) की आपत्ति आयेगी तथा विरोधी सिद्धान्त (अपसिद्धान्त) भी मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रशस्तपाद ने कहा है—(सामान्य) अपने विषय में सर्वत्र विद्यमान है।

और विद्यमान घट में रहनेवाला सामान्य दूसरी ओर होने वाले घट से सम्बन्धित होते समय पहले घट से निकलकर सम्बन्धित होता है या न निकलकर सम्बन्धित होता है? प्रथम पक्ष मानने पर सामान्य को द्रव्य कहना पड़ेगा। दूसरा पक्ष मानने पर सामान्य का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

विशेष—यदि सामान्य को सभी पदार्थों में माना जाए तो सारे पदार्थ एक जैसे मानने पड़ेंगे।

दूसरी बात यह हे कि घटत्व सामान्य सब घड़ों में तो है लेकिन किसी नये घड़े का निर्माण होने पर उस नये घड़े में जो 'घटत्व' सामान्य आता है वह पहले घड़े से निकलकर जाता है या बिना निकले ही। यदि कहें कि सामान्य पुराने घड़े से निकलकर नये घड़े में जाता है, तो गमनादि क्रिया तो द्रव्य में होती है, सामान्य में नहीं ऐसी स्थिति में सामान्य को द्रव्यरूप कहना पड़ेगा। और यदि यह कहें कि सामान्य पूर्वघट से बिना निकले ही नये घर में चला जाता है तब तो सामान्य का नये घट से भी सम्वन्ध नहीं हो सकता है।

किं च विनष्टे घटे सामान्यमवतिष्ठते, विनश्यति, स्थानान्तरं गच्छति वा? प्रथमे निराधारत्वापत्तिः। द्वितीये नित्यत्ववाचोयुक्त्ययुक्तिः। तृतीये द्रव्यत्वप्रसक्तिः-इत्यादि दूषणग्रहणग्रस्तत्वात्सामान्यमप्रामाणिकम्। तदुक्तम्—

६. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यतियुक्तता।।

अनुवाद—और घट के नष्ट हो जाने पर सामान्य भी वहीं रहता है, नष्ट हो जाता है या अन्य स्थानों को चला जाता है। प्रथम मत जाने पर सामान्य को निराधार मानना पड़ेगा। दूसरा मत मानने पर सामान्य को नित्य कहने की बात नहीं लग पायेगी। तीसरा मत मानने पर (सामान्य को) द्रव्य कहना पड़ेगा। इस प्रकार अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण सामान्य कहना ही अप्रामाणिक है। कहा भी गया है—

किसी जगह (घटादि में) वर्तमान सामान्य (घटत्व) अन्य स्थान में (घटादि विशेष का) जन्म होने पर वह सामान्य बिना चले ही दूसरी जगह पहुँच जाता है यह अतियुक्ति है (अर्थात् यह युक्ति ठीक नहीं है)

७. यत्रासौ वर्तते भावस्तेन सम्बध्यते न तु।
तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम्।।
८. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।। इति।

अनुवृत्तप्रत्ययः किमालम्बन इति चेत्—अङ्ग, अन्यापोहालम्बन एवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता, इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अनुवाद—यह भाव (सामान्य) जहाँ पर है, उस स्थान से तो यह सम्बन्धित नहीं होता, लेकिन उस स्थान पर रहने वाले पदार्थ को वह व्याप्त करता है, यह कैसा महान् आश्चर्य है?

यह (सामान्य) न तो जाता है, न तो वहाँ था, न ही बाद में अंश (खण्डित) होकर रहता है, न ही पूर्व आधार को छोड़ता है, और! कैसी परेशानियों की परम्परा है।

"यह सामान्य सबमें रहता है। यह ज्ञान किस पर आधारित है यदि ऐसा कहें तो हे प्रिय! (उत्तर यही है कि) अन्य अपोह का आश्रय लेकर ही। इससे ही आप चिरंजीवी सन्तोष का अनुभव करें। बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

विशेष—घटत्व भूतल पर तो है लेकिन वह भूतल पर स्थित घट को ही व्याप्त करता है, भूतल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नहीं कह सकते कि घटत्व पहले था अब नहीं है। "पुराने घट से वह नये घट में चला गया" ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि कहें कि घटत्व एक घट से हट कर दूसरे में चला गया, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि घटत्व का टुकड़ा नहीं हो सकता है।

अपोहवाद बौद्धों का मत है। वे सामान्य न मानकर अपोह मानते हैं। अपोह का अर्थ है—अतद्भिन्न। घट घटभिन्न सभी पदार्थों से भिन्न है।

१६. दुःख और स्वलक्षण की भावनाएँ

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम्। अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृत्त्युपाये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

ननु किंवदिति पृष्टे दृष्टान्तः कथनीय इति चेत्—मैवम्। स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।

अनुवाद—समस्त संसार को दुःखरूप मानना सभी तीर्थंकरों को सम्मत है। अन्यथा दुःख से बचने की इच्छावाले लोगों की प्रवृत्ति दुःख की निवृत्ति के उपायों में नहीं हो पाती। इसलिये सब कुछ दुःख है, दुःख है, यह भावना करनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि किसकी तरह (सभी पदार्थ दुःखदायी हैं) ऐसा कहने पर दृष्टान्त बतलाइये तो ऐसी बात नहीं है। स्वलक्षण क्षणिक पदार्थों का क्षणिक होने के कारण सामान्य लक्षण न होने से "इसके समान यह पदार्थ है" ऐसा कहना सम्भव नहीं है। इसलिए सभी पदार्थ स्वलक्षण हैं स्वलक्षण हैं यह भावना करनी चाहिये।

विशेष—पूर्व में (परिच्छेद ६) बौद्धों के चार सम्प्रदाय बतलाये गये थे जिनमें वैभाषिकों (सर्वं क्षणिक क्षणिकम्) का वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत परिच्छेद में सौत्रान्तिक (सर्वं दुःखं दुःखम्) तथा योगाचार (सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्) का वर्णन किया गया है।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि सब कुछ दुःख ही दुःख है। संसार में सुखमय प्रतीत होने वाले सभी पदार्थ भी दुःखमय ही हैं। शंकराचार्य भी कहते हैं "सर्वं दुःखमयं जगत्" सांख्यकारिका की पहली कारिका दुःखत्रयनिवारणोपाय से ही प्रारम्भ होती है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तोऽभावात् ।।

भगवान् बुद्ध के चार आर्य सत्यों में प्रथम सत्य यही है कि सारा संसार दुःखमय है।

योगचार सम्प्रदाय का कहना है कि सब कुछ स्वलक्षण है। इनका मानना है कि किन्हीं दो पदार्थों में कोई सामान्य धर्म नहीं है। सभी स्वलक्षण हैं। सभी का अपना-अपना लक्षण है।

१७. शून्य की भावना-माध्यमिक-सम्प्रदाय

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात्। यदि दृष्टं सत्तदा तद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदन्ताया अधिष्ठानस्य च तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

अनुवाद—इसी प्रकार "सभी कुछ शून्य है, शून्य है" यह भावना करनी चाहिये क्योंकि "स्वप्न में तथा जागरण में मैंने यह रजत आदि नहीं देखा है" इस तरह विशेष प्रकार के निषेध की प्राप्ति होती है। यदि सामने दिखाई देने वाले पदार्थ को सत् कहें तो उस पदार्थ से सम्बद्ध दर्शन क्रिया का, इस वस्तु के धर्म के (इदन्ता के) अधिष्ठान का, उस वस्तु पर आरोपित रजतत्त्व आदि का तथा रजतत्व के समवायादिसम्बन्ध का भी सत्त्व मानना पड़ेगा। यह किसी भी वादी को अभीष्ट नहीं है। अर्धजरतीय न्याय उचित नहीं है। मुर्गी का एक भाग पकाने के लिए और दूसरा भाग प्रसव के लिए रख दें ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

विशेष—बौद्ध दर्शन के पूर्वोक्त चार सम्प्रदायों में चौथा सम्प्रदाय 'शून्यवाद' है। इसके प्रवर्तक नागार्जुन थे।

इनका यह मत है कि जो वस्तु सामने दिखलाई पड़ रही है उसे किसी भी प्रकार से सत् नहीं माना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति जाग्रत अवस्था में चांदी देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है कि "मैंने स्वप्न में चांदी नहीं देखी है।" यदि वह स्वप्न में चांदी देखता है तो उसे यह ज्ञान रहता है कि "मैंने जाग्रत अवस्था में चांदी नहीं देखी है"। इस प्रकार "स्वप्न में चांदी नहीं देखी" या "जाग्रत में चांदी नहीं देखी" यह विशिष्ट निषेध होता है।

इसी प्रकार जब शुक्ति में रजत का भ्रम होता है तब यदि उस ज्ञान को सत्य मानें तो "इदं रजतम्" इस ज्ञान में दर्शन क्रिया को सत्य मानना होगा। साथ ही "इदन्ता" के अधिष्ठान शुक्ति को, रजतत्व धर्म के ज्ञान को तथा रजत एवं रजतत्व के समवाय सम्बन्ध को भी सत्य मानना होगा। जबकि इन सभी को सत्य मानना सम्भव नहीं है। यदि कोई कहे कि हम इदन्ता के आधार 'शुक्ति' के ज्ञान को सत्य कहते हैं तथा अन्य ज्ञानों को असत्य कहते हैं। यही तो अर्ध जरतीय न्याय हुआ। अर्थ जरतीय का अर्थ है—आधा बूढ़ा यानि आधा बूढ़ा, आधा जवान। यह भी सम्भव नहीं है। मुर्गी का आधा भाग खाने केलिये तथा आधा भाग प्रसव के लिये रख देना सम्भव नहीं है। इसलिये "सब कुछ शून्य है" यही भावना उचित है।

तस्मादध्यस्ताधिष्ठान-तत्सम्बन्ध-दर्शन-दृष्टृणां मध्य एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिकाः' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन्–भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्व-सर्वसत्यत्वभ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

अनुवाद—इसलिये आरोपित वस्तु के अधिष्ठान, ठसके सम्बन्ध, दर्शन क्रिया तथा द्रष्टा-इनके मध्य में एक या अनेक के असत् होने पर निषेध का विषय हो जाने से सभी का असत्त्व जबरदस्ती आ जाता है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध का उपदेश होने पर ठत्तमबुद्धिवाले माध्यमिकों ने यह कहा है:–भिक्षुपादप्रसरण न्याय से, क्षणभङ्ग आदि शब्दों को कहने के माध्यम से स्थायित्व, अनुकूल वेदना का होना, अनुगतत्व (समवाय सम्बन्ध से रहना), सर्वसत्यत्व आदि भ्रम को हटाकर सर्वशून्यता में ही पर्यवसान होता है। अत: सत्, असत्, सदसत् दोनों तथा दोनों से रहित-इन चार कोटियों से मुक्त शून्य ही तत्त्व है।

विशेष—अधिष्ठान (शुक्ति आदि), सम्बन्ध (समवायादि), दर्शनक्रिया तथा द्रष्टा-इन चारों में से यदि कोई एक भी असत् है तो चारों को असत् कहना पड़ेगा। 'भिक्षुपादप्रसरण' न्याय का तात्पर्य है कि लोगों की भीड़ से भरे स्थान में कोई भिक्षु पहले तो कहीं बैठने की जगह बनाता है फिर धीरे-धीरे पैर फैलाकर सोने तक की जगह बना लेता है, उसी तरह धीरे-धीरे क्षणभङ्गवाद आदि का वर्णन करके पहले वस्तु के स्थायित्व को दूर किया जाता है फिर यह बताया जाता है कि कोई भी वस्तु अनुकूलवेदनीय नहीं है अर्थात् सभी पदार्थ दु:खदायी हैं। फिर अनुगतत्व तथा सर्व सत्यत्व आदि भ्रम को भी हटाकर अन्ततः यह सिद्ध किया जाता है कि "सर्वं शून्यम् शून्यम्।" यह शून्यवाद शङ्कराचार्य के मत से मिलता-जुलता है। शंकराचार्य ने भी माया को चारों कोटियों से परे बतलाया है। उन्होंने माया को सत्, असत्, सदसत् तथा न सत् या असत्—इन चारों से परे अनिर्वचनीय कहा है।

तथा हि—यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावस्तर्हि कारकव्यापारवैयर्थ्यम्। असत्त्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम्।

९. न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते ।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः ।। इति।

अनुवाद—यदि घट आदि का स्वभाव सत्त्व है, तो इसे बनाने का व्यापार व्यर्थ है। यदि घटादि का स्वभाव असत्त्व है यह पक्ष मानें तो पहले के दोष ही आयेंगे। जैसा कि कहा गया है–

"आकाश आदि के समान सत् वस्तु को कारण भी अपेक्षा नहीं होती तथा आकाश पुष्प के समान असत् कार्य का हेतु भी सम्भव नहीं है।

विशेष—यदि घटादि को सत् माना जाए या असत्। दोनों ही स्थितियों में दोष आते हैं। अत: उसे अनिर्वचनीय शून्य ही मानना पड़ेगा।

विरोधादितरौ पक्षावनुपपन्नौ। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

१०. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः ।। इति।

११. इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।। इति च।।

न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

अनुवाद—बाद के दोनों पक्ष (सदसत् उभय तथा अनुभय) भी विरोध के कारण ठीक नहीं हैं। जैसे कि भगवान् के लङ्कावतार में कहा है–बुद्धि के द्वारा विवेचनीय पदार्थों का स्वभाव निश्चित नहीं होता। इसलिये वे पदार्थ अविर्चनीय तथा स्वभावहीन दिखलाये गये हैं।

विद्वान् लोग जो कहते हैं कि यह वस्तु जबरदस्ती उत्पन्न हुई है। जैसे-जैसे पदार्थों का विचार करते हैं, वैसे-वैसे पदार्थ नष्ट होते जाते हैं।

किसी भी पक्ष में पदार्थ स्थिर नहीं रहते यह तात्पर्य है।

दृष्टार्थव्यवहाराश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम्—

१२. परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ।। इति।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति।

अनुवाद—दृष्ट वस्तुओं का व्यवहार स्वप्न व्यवहार के ज्ञान की तरह चलता है। इसीलिये कहा गया है–एक ही स्त्री के शरीर में संन्यासी, कामी तथा कुत्ते को शव, स्त्री तथा भोजन तीन तरह के विकल्प होते हैं।

तो इस प्रकार इन चार भावनाओं के कारण समस्त वासनाओं के निवृत्त हो जाने पर शून्यरूप परमोक्ष मिल जायेगा इतने से ही हम कृतार्थ हैं। अब हमारे लिए कुछ भी उपदेष्टव्य नहीं है।

विशेष—इस जगत् के समस्त व्यवहार स्वप्न की तरह मिथ्या हैं-ऐसा शङ्कराचार्य भी मानते हैं।

शिष्यस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः। गुरूक्तस्याङ्गीकरणादुत्तमाः पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः।।

अनुवाद—(भगवान् बुद्ध के) शिष्यों को दो कार्य करने चाहिये–योग तथा आचार। उसमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रश्न करना योग है तथा गुरु के द्वारा बतलायी गयी बात को स्वीकार करना आचार है। गुरु के द्वारा बतलायी गयी बात को स्वीकार करने के कारण ये उत्तम कहलाते हैं तथा (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का) प्रश्न न करने के कारण अधम भी कहलाते हैं इसलिए उनकी "माध्यमिक" ऐसी प्रसिद्धि है।

विशेष—बौद्धों के एक सम्प्रदाय को 'माध्यमिक' क्यों कहा जाता है, इसका कारण यह हैं कि वे उत्तम भी हैं और अधम भी अतः, उन्हें माध्यमिक कहा जाता है। अन्य मत के अनुसार शाश्वतवाद तथा उच्छेद वाद इन दो धाराओं के मध्य का मार्ग स्वीकार करने के कारण इन्हें माध्यमिक कहा जाता है। शाश्वतवाद के अनुसार आत्मा नित्य है लेकिन उच्छेदवाद के अनुसार आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। लेकिन माध्यमिक सम्प्रदाय शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के बीच का मार्ग अपनाता है।

१८. योगाचार-मत-विज्ञानवाद

गुरूक्तं भावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात् केषाञ्चिद्योगाचारप्रथा। एषा हि तेषां परिभाषा-स्वयंवेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। तत्कीर्तितं धर्मकीर्तिना—

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। इति।

अनुवाद—गुरु के बाद बतलायी गयी चारों भावनाओं तथा बाह्य पदार्थों की शून्यता को स्वीकार करके "आन्तरिक पदार्थ की शून्यता को कैसे स्वीकार करते हैं?" यह प्रश्न करने के कारण कुछ लोगों को योगचार सम्प्रदाय का कहा जाता हैं उनकी यह परिभाषा है कि स्वयं वेदन को स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा समस्त संसार को अन्धा मानना पड़ेगा। यही बात धर्मकीर्ति ने कही है-

प्रत्यक्ष को न मानने वालों की पदार्थ की दृष्टि ठीक नहीं है।

विशेष—योग (पर्यनुयोग=प्रश्न) करने के कारण (आचार) कुछ लोगों को योगाचार कहा जाता है। योगाचार मत का मानना है स्वयंवेदन अर्थात् स्वयं के ज्ञान को तो मानना ही चाहिये। यदि स्वयं के ज्ञान को भी नहीं माना जायेगा, अर्थात् ज्ञाता का भी ज्ञान यदि नहीं है, तो सारा जगत् ही अन्धा कहा जाएगा। कौन किसका ज्ञान करेगा? जब ज्ञाता ही नहीं है तो ज्ञान करेगा कौन? इसलिए स्वज्ञान को तो मानना ही पड़ेगा।

१९. बाह्य पदार्थ का खण्डन

बाह्यं ग्राह्यं नोपपद्यत एव। विकल्पानुपपत्तेः। अर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति अनुत्पन्नो वा? न पूर्वः, उत्पन्नस्य स्थित्यभावात्। नापरः, अनुत्पन्नस्यासत्त्वात्। अथ मन्येथाः-'अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति' तदपि बालभाषितम्। वर्तमानतावभासविरोधात्। इन्द्रियादेरपि ज्ञानजनकत्वेन ग्राह्यत्वप्रसंगाच्च।

अनुवाद—बाह्यपदार्थ ग्राह्य के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों विकल्प नहीं लग पाते। पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्रहण होते हुए उत्पन्न होता है या उत्पन्न नहीं होता? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ स्थित नहीं रह सकता अर्थात् दूसरे ही क्षण विनष्ट हो जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ विना उत्पन्न हुए रह ही नहीं सकता। यदि यह मानें कि भूतकालिक पदार्थ ही ज्ञानग्राह्य है क्योंकि वे पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो यह भी मूर्खों की बात है क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तुओं की वर्तमान

काल की प्रतीति का भी विरोध हो जायेगा। इन्द्रिय आदि भी ज्ञान उत्पन्न करने के कारण ग्राह्य बन जायेंगी।

विशेष—जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं अर्थात् एक क्षण में उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जब वह टिकता नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे सम्भव है? इसलिए उत्पन्न पदार्थ ज्ञान ग्राह्य नहीं हो सकता, न ही अनुत्पन्न पदार्थ ज्ञान ग्राह्य हो सकता है।

फिर यदि बीते हुए पदार्थ को ज्ञानग्राह्य कहने लगें तो वर्तमान काल में उनकी प्रतीति भी अनुपपन्न हो जायेगी। इसलिए कथमपि बाह्य पदार्थ ज्ञान ग्राह्य नहीं हो सकते हैं।

किं च, ग्राह्यः किं परमाणुरूपोऽर्थोऽवयविरूपो वा। न चरमः कृत्स्नैकदेशविकल्पादिना तन्निराकरणात्। न प्रथमः अतीन्द्रियत्वात्। षट्केन युगपद्योगस्य बाधकत्वाच्च। यथोक्तम्—

१३. षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ।। इति।।

अनुवाद—फिर ग्राह्य पदार्थ परमाणुरूप है या अवयवीरूप है। दूसरा विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि "सम्पूर्ण पदार्थ ग्राह्य है या उसका एकभाग ग्राह्य है" यह विकल्प देकर दूसरे विकल्प का निरास हो जाएगा। प्रथम विकल्प (ग्राह्य पदार्थ परमाणु रूप है) भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु रूप पदार्थ के अतीन्द्रिय होने से वह ग्राह्य नहीं बन सकता। छह दिशाओं के साथ एक साथ परमाणु का योग होने में बाधकता है जैसा कि कहा गया है–

छह दिशाओं के साथ एकसाथ परमाणु का योग होने पर परमाणु के छह अंश हो जाएँगे। उन सबका एक-एक भाग करने पर पिण्ड तो अणुभाव ही बचेगा।

विशेश—यदि परमाणु का सम्बन्ध छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे) से माना जाए, तो उसे अवयवी मानना पड़ेगा। यदि सभी दिशाओं से सम्बन्धित भागों को अलग-अलग कर दिया जाए, तो फिर सभी भागों को अणु ही कहा जाएगा, फिर पूर्व से अन्तर ही क्या हुआ?

२०. बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना

तस्मात्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति सिद्धम्। तदुक्तम्—

१४. नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।। इति।।

ग्राह्याग्राहकयोरभेदश्चानुमातव्यः। यद्वेद्यते येन वेदनेन, तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानेनात्मा। वेद्यन्ते तैश्च नीलादयः।

अनुवाद—इसलिए अपने से अतिरिक्त किसी ग्राह्य के न होने से उन विषयों को ग्रहण करने वाली बुद्धि स्वयं अपने ही रूप का प्रकाश करती है, प्रकाश के समान यह

सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—बुद्धि का (स्वयं से अतिरिक्त) दूसरा कोई ग्राह्य नहीं है तथा बुद्धि को ग्रहण करने वाला भी (बुद्धि से अतिरिक्त) कोई दूसरा नहीं है। इसलिए (बुद्धि से व्यतिरिक्त) ग्राह्य तथा ग्राहक न होने से स्वयं बुद्धि ही प्रकाशित होती है।

ग्राह्य तथा ग्राहक के भेद का अनुमान कर लेना चाहिये। जिसके ज्ञान से जो जाना जाता है वह उससे भिन्न नहीं है, जैसे ज्ञान से आत्मा (भिन्न नहीं है) ज्ञान से ही नीलादि पदार्थों को जाना जाता है।

विशेष—बुद्धि अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ को ग्रहण नहीं करती। इसलिये जिसे वह ग्रहण करती है वह पदार्थ बुद्धि ही कहलायेगा।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ज्ञानरूप ही माना गया है। इसलिए जिससे जिसको जानते हैं वे दोनों एक ही है। आत्मा से जिन नीलादि पदार्थों को जानते हैं वे सभी पदार्थ का ज्ञान- रूप ही है।

भेदे हि सति न अनेनार्थस्य सम्बन्धित्वं स्यात्। तादात्म्यस्य नियमहेतोरभावात्। तदुत्पत्तेरनियामकत्वात्। यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासनैव निमित्तम्। यथोक्तम्–

१५. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।। इति।।
१६. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लभ्यते ।। इति च।।

(स.सि.सं.पृ. १२)

अनुवाद—यदि (ग्राह्य और ग्राहक में) भेद माना जाए तो ज्ञान (ग्राहक) के साथ ग्राह्य वस्तु का सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। तादात्म्य सम्बन्ध से इन दोनों (ग्राह्य-ग्राहक) के सम्बन्ध का नियम नहीं बनेगा, तदुत्पत्ति (कार्य-कारण सम्बन्ध) भी इन दोनों के सम्बन्ध का नियामक नहीं है। जो यह ग्राह्य और ग्राहक के ज्ञान का अलग-अलग आभास होता है, वह एक चन्द्र में दो चन्द्र की प्रतीति के समान भ्रम ही है। इस भ्रम में अनादि तथा अविच्छिन्न प्रवाह वाली भेद की वासना ही कारण है। जैसा कि कहा गया है—

एक साथ उपलब्ध होने के नियम से नीलादि विषय तथा उसके ज्ञान का अभेद होता है। तथा उनके भेद की जो प्रतीति होती है, वह एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की प्रतीति के समान भ्रम ज्ञान से होती है।

बुद्धि का स्वरूप अविभक्त होने पर भी भ्रम-ज्ञान के कारण ग्राह्य और ग्राहक के ज्ञान के भेद के समान ही प्राप्त होता है।

विशेष—ग्राह्य-ग्राहक में भेद मानने पर किसी प्रकार से भी उन दोनों का सम्बन्ध ही नहीं बन पायेगा। भेद पक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध या तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी इन दोनों को सम्बन्धित नहीं कर सकता। तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर तो इन दोनों का भेद ही नहीं बनेगा

और तदुत्पत्ति मानने पर विषय के ज्ञान से उत्पन्न मानना पड़ेगा लेकिन यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि घटादि विषय तो दण्ड चक्र कपालादि से उत्पन्न होते हैं।

न च रसवीर्यविपाकादि समानमाशामोदकोपार्जितमोदकानां स्यादिति वेदितव्यम्। वस्तुतो वेद्य-वेदकाकारविधुराया अपि बुद्धेः व्यवहर्तृपरिज्ञानानुरोधेन विभिन्नग्राह्यग्राहकाकाररूपवत्तया तिमिराद्युपहताक्ष्या केशोण्डुकनाडीज्ञानभेदवत् अनाद्युपप्लववासनासामर्थ्यात् व्यवस्थोपपत्तेः पर्यनुयोगायोगात्। यथोक्तम्—

१७. **अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते।**
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥

अनुवाद—फिर आशामोदक (काल्पनिक लड्डू) तथा उपार्जित मोदक (वास्तविक रूप से प्राप्त लड्डू) दोनों में रस, वीर्य तथा विपाक (पाचना) आदि भी समान ही होना चाहिये-ऐसा मत समझें। वास्तव में यह प्रश्न ही नहीं किया जा सकता हैं, क्योकि व्यवहार करने वालों के ज्ञान के कारण ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से रहित बुद्धि को भी अनादिकाल से युक्त वासना के कारण विभिन्न-विभिन्न ग्राह्य तथा ग्राहकों का रूप ठीक उसी तरह प्राप्त होता है, जिस प्रकार तिमिर आदि रोग से ग्रस्त आँखों से केश, उण्डुण (मकड़ी का जाला) नाड़ी आदि का ज्ञान होता है यह व्यवस्था होती हैं—जैसा कि कहा गया है-ज्ञेय तथा ज्ञाता के आकार से रहित बुद्धि भी भ्रान्त लोगों के द्वारा ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से युक्त अलग-अलग दिखलाई पड़ती है।

विशेष—ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से रहित बुद्धि भी उन दोनों के आकार से युक्त इस कारण प्रतीत होती है क्योकि अनादि वासना वैसी ही बनी हुई। इसीलिये काल्पनिक मोदक रस, वीर्यादि प्रदान नही करता लेकिन वास्तविक मोदक रस, वीर्यादि प्रदान करता है। इसका कारण भी अनादि वासना ही है।

१८. **तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत्।**
यदा तदा न संचोद्या ग्राह्यग्राहकलक्षणा ॥ इति।

तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशात् अनेकाकारावभासत-इति सिद्धम्। ततश्च प्रागुक्त-भावना-प्रचय-बलात् निखिल-वासनोच्छेद-विगलित-विविध-विषयाकारोपल्लव-विशुद्ध-विज्ञानोदयो महोदय इति।

अनुवाद—उसी प्रकार जब ग्राह्य और ग्राहक रूप यह व्यवस्था केशादि ज्ञान के भेद के समान ही रहती है तो इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये।

इसलिए बुद्धि ही अनादि वासना के कारण अनेक आकार में प्रकाशित होती है-यह यह सिद्ध है। फिर पूर्वोक्त (चारों) भावनाओं की एकजुटता के बल से समस्त वासनाओं का उच्छेद होने पर विविध विषयों के आकार के गल (समाप्त) जाने पर विशुद्ध विज्ञान का जो उदय है, वही महोदय (मोक्ष) है।

विशेष—पूर्वोक्त चार भावनाओं (सर्वं, क्षणिकं, सर्वं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यम्) के कारण जब समस्त वासनाओं को उच्छेद होता है। फिर वासनाओं के

उच्छेद से विविध विषयों का आकार समाप्त होकर, एकाकारा विशुद्ध बुद्धि (ज्ञान=विज्ञान) का उदय हो जाता है, यही तो मोक्ष (महोदय) है।

११. सौत्रान्तिक-मत-बाह्यार्थानुमेयावाद

अन्ये तु मन्यन्ते—यथोक्तं 'बाह्यं वस्तुजातं नास्तीति' तदयुक्तम्। प्रमाणाभावात्। न च सहोपलम्भनियमः प्रमाणमिति वक्तव्यम्। वेद्यवेदकयोर-भेदसाधकत्वेनाभिमतस्य तस्याप्रयोजकत्वेन सन्दिग्धविपक्षव्या-वृत्तिकत्वात्।

ननु भेदे सहोपलम्भनियमात्मकं साधनं न स्यादिति चेन्न। ज्ञानस्यान्त-र्मुखतया, ज्ञेयस्य बहिर्मुखतया च भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। एकदेशत्वैक-कालत्व-लक्षणसहत्व-नियमासम्भवाच्च।

अनुवाद—अन्य लोग मानते है कि जो यह कहा जाता है कि "बाह्य वस्तु नहीं हैं" वह ठीक नहीं है, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। सहोपलम्भ नियम (अर्थात् साथ साथ रहने का नियम) प्रमाण है यह भी नहीं कहना चाहिये वेद्य और वेदक में अभेद सिद्ध करने के लिए अभिमत उस निमय के अप्रयोजक होने के कारण उस नियम का विपक्ष में अभाव सन्दिग्ध है।

भेद को सिद्ध करने में सहोपलम्भ नियम साधन नहीं होगा यदि ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं है। ज्ञान के अन्तर्मुख होने से तथा ज्ञेय के बहिर्मुख होने से भेद से दोनों भासते हैं इसलिये एकदेशत्व, एककालत्व तथा लक्षणसहत्व (दोनों के लक्षण मिलना) ये सभी नियम सम्भव नहीं है।

विशेष—पीछे ग्राह्य और ग्राहक में अभेद सिद्ध करने के लिये सहोपलम्भ नियम माना गया था। लेकिन इस अभेद को सिद्ध करने के लिए यह नियम नहीं बनाया जा सकता।

यह नियम है कि हेतु को विपक्ष में नहीं रहना चाहिये। जैसे 'धूम' हेतु के द्वारा पर्वत पर अग्नि सिद्ध करते समय महाह्रद विपक्ष है। महाह्रद में अग्नि का अभाव पूर्व से ही सिद्ध है। अतः महाह्रद में धूम भी नहीं रहना चाहिये। उसी तरह हेतु "सहोपलम्भ नियम" से अभेद को सिद्ध करते समय वे सभी पदार्थ विपक्ष हैं, जिनमें भेद होता है। लेकिन सहोपलम्भ नियम तो भेद वाले पदार्थों में है या नहीं यह सन्देह है। इस प्रकार सहोपलम्भ नियम विपक्ष में सन्दिग्ध है।

साथ ही भेद को सिद्ध करने के लिए भी सहोपलम्भ नियम को मानना पड़ता है। सहोपलम्भनियम से ज्ञान तथा ज्ञेय में भेद सिद्ध होता है। इसलिए सहोपलम्भ कोई नियम ही नहीं है। साथ ही एकदेशत्व, एककालत्व, लक्षणसहत्व आदि नियम भी सम्भव नहीं है।

किं च नीलाद्यर्थस्य ज्ञानकारत्वेऽहमिति प्रतिभासः स्यात्। न तु 'इद-मिति' प्रतिपत्तिः। प्रत्ययादव्यतिरेकात्। अथोच्यते-ज्ञानस्वरूपोऽपि नीलाकारो भ्रान्त्या बहिर्वत् भेदेन प्रतिभासत इति, न च तत्राहमुल्लेख इति। तथोक्तम्—

१९. परिच्छेदान्तराद्योऽयं भागो बहिरिव स्थितः।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासोऽप्युपल्लवः।। इति।
२०. यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते। इति।

अनुवाद—फिर नीलादि पदार्थों को ज्ञानरूप मानने पर अहम् (मैं) ऐसा भास होना चाहिये न कि "इदम्" (यह) ऐसा ज्ञान। क्योंकि बाह्य पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। यदि योगाचारी कहते हैं नीलादि आकार ज्ञानरूप होने पर भी भ्रमवश भेद के द्वारा बाह्य पदार्थ के समान भासते हैं इसलिये उसमें 'अहम्' का उल्लेख नहीं किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—ज्ञान के आन्तरिक परिच्छेद से पृथक् जो यह बाह्य के समान स्थित भाग है, वह ज्ञान से अभिन्न होने पर भी भेद का आभास मात्र भ्रम ही है।

जो अन्दर ज्ञेय तत्व है वह बाह्य के समान ही भासता है।

विशेष—सौत्रान्तिकों ने योगाचार मत (विज्ञानवादी) पर यह आक्षेप किया है कि यदि बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप है तो नीलादि पदार्थों के विषय में "अहं नील:" ऐसा बोध होना चाहिये। जबकि वहाँ तो "इदं नीलम्" वह बोध होता है। इसका योगचारी उत्तर देते हैं कि बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही है लेकिन भ्रमवश उसकी अलग प्रतीति होती है। इसीलिये बाह्य वस्तुओं को अहम् से सम्बोधित नहीं किया जाता है।

तदयुक्तम्। बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिरहिततया बहिर्वदित्युपमानोक्ते-रयुक्तेः। न हि वसुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति प्रेक्षावानाचक्षीत। भेदप्रति-भासस्य भ्रान्तत्वेऽभेदप्रतिभासस्य प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्ये च भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमिति परस्पराश्रयप्रसंगाच्च। अविसंवादान्नीलततादिकमेव संविदाना बाह्यमेवोपाददते, जगत्युपेक्षन्ते चान्तरमिति व्यवस्थादर्शनाच्च।

अनुवाद—यह ठीक नहीं है। बाह्य पदार्थ के न होने से उसकी व्युत्पत्ति के न होने के कारण "बाह्यवस्तु के समान" यह उपमान देना भी ठीक नहीं है।" वसुवित्र वन्ध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है" ऐसा कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कहता। भेद की प्रतीति को भ्रान्त कहने पर अभेद की प्रतीति का प्रामाण्य तथा अभेद की प्रतीति को प्रमाण कहने पर भेद की प्रतीति को भ्रान्त कहना-इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग आयेगा। विरोध न होने से नीलादि पदार्थों को ही ज्ञान का विषय मानकर बाह्य पदार्थों को ग्रहण किया जाता है और आन्तरिक पदार्थ की उपेक्षा की जाती है-ऐसी व्यवस्था देखी जाती है।

विशेष—जब बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो बाह्य पदार्थ में बाह्य शब्द की व्युत्पत्ति ही नहीं है। इसलिए बाह्य वस्तु से उपमा देना भी बन्ध्यापुत्र से उपमा देने के समान मूर्खता है। साथ ही अन्योन्याश्रय दोष भी उपस्थित होता है।

कुछ लोग यानी नैयायिक गण बाध्य पदार्थ की सत्ता को ही मानते हैं। वे आन्तर पदार्थ की सत्ता नहीं मानते।

२२. *बाह्यार्थ का सत्ता-निष्कर्ष*

एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमयपायसीयन्यायवत् आभासतां भजेत्। अतो बहिर्वदिति वदता बाह्यं ग्राह्यमेवेति भावनीयमिति भवदीय एव बाणो भवन्तं प्रहरेत्।

अनुवाद—इस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय अभेद सिद्ध करने वाला हेतु गोमय-पायसी-

न्याय के समान आभास मात्र है। अतः "बहिर्वत्" यह कहते हुए बाहय पदार्थ भी ग्रहण करना चाहिये-यह समझना चाहिये। इस प्रकार आपका बाण ही आप पर प्रहार करेगा।

विशेष—जैसे कहा जाए कि सभी गव्य (गाय से बने पदार्थ) पायस होते हैं इसलिये गोमय भी पायस (गोबर) है क्योंकि वह गव्य है। उसी प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय में अभेद सिद्ध करना ही भ्रम ही है।

२३. बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है

ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नमिति चेत्-तदनुपपन्नम्। इन्द्रियसन्निकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेतयोपपत्तेः। अत एव पर्यनुयोगपरिहारौ समग्राहिषाताम्—

२१. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाकारार्पणक्षमम्।। इति।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि ज्ञान से भिन्न काल वाले अर्थ का ग्राह्यत्व अनुपपन्न है तो यह भी ठीक नहीं हैं। इन्द्रिय के सन्निकर्ष से युक्त विषय का उससे उत्पन्न ज्ञान में अपना आकार समर्पित करने के कारण तथा समर्पित आकार से उस विषय की अनुमेयता की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए प्रश्न तथा समाधान दोनों का संग्रह किया गया है—

यदि यह कहा जाए कि ज्ञान से भिन्न काल वाले विषय का ग्राह्यत्व कैसे होगा तो (उत्तर यह है कि) विषय के ज्ञानाकार में अर्पित करने में समर्थ हेतु को ग्राह्य कहा जाता है।

विशेष—विषय पूर्वकाल में है तथा उसका ज्ञान तो उत्तर काल में है तो फिर उस ज्ञान से विषय का ग्रहण कैसे होता है? इसके उत्तर में यही कहा गया हैं कि कि ज्ञान में अपना आकार दे देता है क्या उसी आकार से ही विषय का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार विषय अनुमेय है। श्लोक में यही बात कही गयी कि व्यक्ति (विषय) के ज्ञान में आकार समर्पित करने की जो शक्ति है वही विषय को ग्रहण (अनुमान) करने का हेतु है।

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते, यथा च भाषया देशः, यथा वा सम्भ्रमेण स्नेहः, तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्। तदुक्तम्—

२२. अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता।। इति।।

अनुवाद—उसी तरह जिस प्रकार (शरीर की) पुष्टि से भोजन का अनुमान होता है या जिस प्रकार भाषा से देश का अनुमान होता है या सम्मान से स्नेह का अनुमान होता है, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय के आकार से ज्ञेय का अनुमान होता है। जैसा कि कहा गया है—इस ज्ञेय के आकार को बिना छोड़े ही ज्ञान ज्ञेय से जुड़ता है। अतः ज्ञान का (विषय) रूप होना ही विषय के ज्ञान का प्रमाण है।

२४. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान

न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता। तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु

सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति च। तथा बाह्यार्थसद्भावे प्रयोगः—ये यस्मिन्सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तसापेक्षाः। यथा-अविवक्षति अजिगमिष्यति मयि वचनगमनप्रतिभासा विवक्षु-जिगमिषु-पुरुषान्तर-सन्तान-सापेक्षाः। तथा च विवादाध्यासिताः प्रवृत्तिप्रत्ययाः सत्यप्यालयविज्ञाने कदाचिदेव नीलाद्युल्लेखिनः॥ इति॥

अनुवाद—ज्ञान (वित्ति) की सत्ता ही विषयों का ज्ञान है यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वह ज्ञान की सत्ता सर्वत्र सामान्य हो जाएगी। उस ज्ञान की सत्ता में सारूप्य (विषयों का एक जैसा आकार) प्रविष्ट होकर उसे सरूप बनाने में लिए विषयों से जोड़ता है।

बाह्य पदार्थ की सत्ता की सिद्धि के लिए यह प्रयोग है-जो वस्तुएँ जिस पदार्थ के रहने पर कभी-कभी उत्पन्न होते हैं वे वस्तुएँ उस पदार्थ से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा रखती हैं। जैसे मेरे बोलने की इच्छा न करने पर या चलने की इच्छा न करने पर भी वचन तथा गमन की प्रतीतियाँ बोलने तथा चलने की इच्छा करने वाले अन्य पुरुषों के अधीन होगी। उसी तरह विचारणीय विषय के अन्तर्गत आये हुए प्रवृत्ति प्रत्यय आलयविज्ञान के होने पर भी कभी-कभी ही नीलादि विषयों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

विशेष—बाह्य पदार्थ की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग दिखाया गया है कि जो कार्य जिस कारण के रहने पर भी कभी-कभी ही उत्पन्न होता है, उस कार्य की उत्पत्ति में उस कारण से अतिरिक्त अन्य कारण भी लगते हैं। जैसे कोठी में बीज रहने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अंकुर की उत्पत्ति में बीज के अतिरिक्त मिट्टी, पानी, जलवायु आदि कारण भी लगते हैं।

जैसे कोई एक व्यक्ति बोलना या चलना नहीं चाहता तो इसका अर्थ यह नहीं कि कोई भी व्यक्ति बोलेगा या चलेगा नहीं क्योंकि बोलने या चलने की क्रिया अन्य पुरुषों के भी अधीन है। ठीक उसी तरह ज्ञान (आलय विज्ञान) कभी-२ नीलादिविषयों के रूप में अभिव्यक्त होता है तो कभी-कभी नहीं होता।

विज्ञानवाद में विज्ञान को दो तरह का माना गया है-आलय विज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान।

आलयविज्ञान समस्त ज्ञान का आलय (भण्डार) है। वह समुद्र के समान है तथा विषय पवन के समान और प्रवृत्ति विज्ञान तरंग है।

प्रवृत्ति विज्ञान सात प्रकार कहा है—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, घ्राणविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान। लंकावतार सूत्र में कहा गया है—

तरंगा उदधेर्यद्वत्पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न वर्तते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते॥

—लंकारवतारसूत्र (२/९९-१००)

तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम्—

२३. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।। इति।।

तस्मादालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिविज्ञानहेतुर्बाह्योऽर्थो ग्राह्य एव, न वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद इति वेदितव्यम्।

अनुवाद—उसमें आलयविज्ञान अहम् का आश्रय विज्ञान है। नील आदि विषयों को विषय बनाने वाला विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है। जैसा कि कहा गया है—"जो 'अहम्' का आश्रय ज्ञान है, वह आलयविज्ञान है तथा जो नीलादि का उल्लेख करता है वह प्रवृत्ति विज्ञान है।"

इसलिये आलयविज्ञान की परम्परा से अतिरिक्त कभी-कभी होने वाले प्रवृत्तिविज्ञान का हेतु बाह्य विषय ग्राह्य ही है। वासना के परिपाक की प्रतीति कभी-कभी ही होती है इस कारण बाह्य विषय भी कभी-कभी ही होगा-यह नहीं समझना चाहिये।

२५. *विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण*

विज्ञानवादिनये हि वासना नाम एकसन्तानवर्तिनामालय-विज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः। तस्याश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः। तस्य च प्रत्ययः कारणं स्वसन्तानवर्तिपूर्वक्षणः कक्षीक्रियते। सन्तानान्तर-निबन्धनत्वानङ्गीकारात्।

अनुवाद—विज्ञानवादियों के मतानुसार एक परम्परा में रहने वाले आलयविज्ञानों की उस-प्रवृत्ति विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ही वासना हैं। उस वासना का अपने कार्य के उत्पादन के प्रति प्रवृत्त होना ही परिपाक हैं। उस परिपाक का कारण अपनी परम्परा में रहने वाला पूर्वक्षण स्वीकार किया जाता है। क्योंकि दूसरी परम्परा के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया जाता।

विशेष—आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान के स्वरूप पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि आलय विज्ञान 'अहंकार' का आश्रय है। यह आन्तर विज्ञान है, जबकि प्रवृत्ति विज्ञान का सम्बन्ध विषयों से होता है। प्रवृत्ति विज्ञान वासना के कारण उत्पन्न होता है। एक परम्परा में रहने वाले आलयविज्ञानों से उसी परम्परा से सम्बद्ध प्रवृत्तिविज्ञानों को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वही वासना कहलाती है। वासना का परिपाक पूर्वक्षण पर निर्भर करता है। अत: वासना के परिपाक का कारण पूर्वक्षण ही है।

ततश्च प्रवृत्तिविज्ञानजनकालयविज्ञानवर्तिवासनापरिपाकं प्रति सर्वेऽप्यालयविज्ञानवर्तिनः क्षणाः समर्था एवेति वक्तव्यम्। न चेदेकोऽपि न समर्थः स्यात्। आलयविज्ञानसन्तानवर्तित्वाविशेषात्। सर्वे समर्था इति पक्षे कालक्षेपानुपपत्तिः। ततश्च कादाचित्कत्वनिर्वाहाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः सुखादि-

विषयाः षडपि प्रत्ययाश्चतुरः प्रत्ययान् प्रतीत्योत्पाद्यन्त इति चतुरेणानिच्छताप्य-च्छमतिना स्वानुभवमनाच्छाद्य परिच्छेत्तव्यम्।।

अनुवाद—इस प्रकार प्रवृत्ति विज्ञान को उत्पन करने वाली आलय विज्ञान में रहने वाली वासना के परिपाक के प्रति आलय विज्ञान के सभी क्षण समर्थ ही हैं ऐसा कहना चाहिये। यदि (सभी क्षणों में सामर्थ्य) नहीं होगा, तो एक भी क्षण समर्थ नहीं होगा। क्योंकि आलयविज्ञान की परम्परा में रहने का सामान्य लक्षण सभी क्षणों में हैं। यदि सभी क्षण समय हैं ऐसा कहें तो समय नहीं बीत सकता (अर्थात् सभी क्षण तुरन्त कार्य को उत्पन्न करेंगे, वे समय की प्रतीक्षा नहीं करेंगे) फिर "वासनाएँ कभी-कभी कार्य करेंगी" (कादाचित्कत्व) इसे सिद्ध करने के लिये स्वच्छ बुद्धि वाले चतुर व्यक्ति को न चाहते हुए भी अपने अनुभवों को बिना छिपाये यह मानना चाहिये कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय तथा सुख आदि विषय—ये छह ज्ञान (आगे कई जाने वाले) चार प्रत्ययों की प्रतीति करके ही उत्पन्न होते हैं।

विशेष—आलय विज्ञान के सभी क्षण कार्योत्पादन में समर्थ हैं या सभी क्षण कार्योत्पादन में समर्थ नहीं हैं दोनों ही स्थितियाँ सम्भव न होने से "कादाचित्कत्व" स्वीकार किया गया है। कदाचित्कत्व के निर्वाह के लिये चार प्रत्यय माने गये हैं जो कि आगे बतलाये गये हैं।

२६. ज्ञान के चार कारण

ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यधिपतिरूपाः। तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलकारता भवति। समनन्तरप्रत्ययात् प्राचीनज्ञानोद्बोधरूपता। सहकारिप्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्विषयग्रहणप्रतिनियमः।।

अनुवाद—वे चार प्रत्यय प्रसिद्ध हैं—आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति। उसमें ज्ञानपद से जाने जाने वाले नीलादि प्रतीति वाले चित्त का नीलरूप आलम्बन प्रत्यय के कारण नीलाकारता होती है। समनन्तर प्रत्यय के कारण प्राचीन ज्ञान की उद्बोधरूपता आती है। सहकारी ज्ञान 'प्रकाश' से स्पष्टता आती है। चक्षुरूप अधिपतिप्रत्यय से विषयग्रहण की प्रतीति का नियम होता है।

विशेष—चार प्रत्ययों के कारण चित्त साकार रूप धारण करता है। नीलादि प्रतीति वाले चित्त को ही ज्ञान पद से कहा जाता है। नीलादि विषयाकार चित्त का आलम्बन प्रत्यय नीलादिविषय है। नीलादि विषय ही चित्त के आलम्बन (आधार या विषय) बनते हैं। पूर्वक्षण के घटादि विषय से इसी आकार में उत्तर क्षण में घट उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्व क्षण के आकार से उत्तर क्षण में भी जो तदाकार उत्पन्न होता है इस परम्परा का कारण समनन्तर प्रत्यय है।

प्रकाश आदि सहकारी से ज्ञान स्पष्ट होता है। अन्धकार में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता। चक्षु आदि इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है। अधिपति प्रत्यय से विषय ग्रहण का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार ये चार प्रत्यय प्रवृत्ति विज्ञान को जन्म देते हैं।

उदितस्य ज्ञानस्य रसादिसाधारण्ये प्राप्ते नियामकं चक्षुर-धिपति-र्भवितुमर्हति। लोके नियामकस्याधिपतित्वोपलम्भात्। एवं चित्तचैत्तात्मकानां सुखादीनां चत्वारि कारणानि द्रष्टव्यानि।।

अनुवाद—उत्पन्न हुआ ज्ञान रसादिविषयों के समान होने से नियामक चक्षु इन्द्रिय अधिपति हो सकता है। लोक में नियामक को ही अधिपति माना जाता है। इस प्रकार चित्त चित्तरूप सुखादि विषयों के चार कारण देखे जाने चाहिये।

विशेष—विषय तो रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, स्पर्श पांच हैं लेकिन किस विषय का ग्रहण कौन सी इन्द्रिय से होगा? यह नियमन इन्द्रिय करती है। जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप को ग्रहण करता है। अतः इन्द्रिय को अधिपति प्रत्यय कहा जाता है।

२७. चित्त और उसके विकार-पाँच स्कन्ध

सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारसंज्ञकः। तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञान-स्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदना-स्कन्ध-निबन्धा राग-द्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धाः।।

अनुवाद—यह चित्त तथा चित्त का विकाररूप स्कन्ध पांच प्रकार का है—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार। उसमें "जिससे विषयों का निरूपण होता है" या "जो निरूपित होते हैं" इन व्युत्पत्तियों के अनुसार विषयों से युक्त इन्द्रियाँ ही रूपस्कन्ध हैं। आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है। पूर्वोक्त दोनों स्कन्धों के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रत्ययों का प्रवाह वेदना स्कन्ध है। गौ इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाला ज्ञान प्रवाह संज्ञास्कन्ध है। वेदना स्कन्ध पर आश्रित राग द्वेषादि क्लेश उपक्लेश, मद-मान आदि तथा धर्म-धिर्म संस्कार स्कन्ध है।

विशेष—यहाँ पञ्च स्कन्धों का वर्णन किया गया है। ये पञ्चस्कन्ध ही शरीर का निर्माण करते हैं। इन पञ्चस्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है। विज्ञान दो तरह का होता है—आलयविज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान। सुख-दुःख का अनुभव वेदनास्कन्ध है। यह अनुभव जिन सुख-दुःख आदि से होता है, वे सुख-दुःख तथा धर्म-अधर्म ही संस्कार कहलाते हैं। इन पञ्च स्कन्धों के पूर्ण ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

२८. चार आर्य सत्य-दुःख, समुदाय, निरोध, मार्ग

तदिदं सर्वं दुःखं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं संपादयेत्। अत एवोक्तम्—दुःखसमुदायनिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि। तत्र दुःखं प्रसिद्धम्।

अनुवाद—तब यह सारा कुछ दुःख है, दुःख का आश्रय है तथा दुःख का साधन है, यह समझकर इसे रोकने के उपाय तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। इसीलिये

कहा गया है—दु:ख, समुदाय, निरोध तथा उपाय—ये चारों आर्य बुद्ध के अभिमत तत्त्व हैं। उनमें दु:ख प्रसिद्ध है।

विशेष—बुद्ध ने चार आर्य सत्य बतलाये हैं—

१. समस्त संसार दु:खरूप है। (दु:ख)

२. दु:ख का कारण है। (दु:खसमुदाय)

३. दु:ख को रोका जा सकता है। (दु:खनिरोध)

४. दु:ख को रोकने का मार्ग है। (दु:खनिरोधमार्ग)

बुद्ध का सारा उपदेश इन चारो आर्य सत्यों पर टिका है। संसार को दु:खमय सभी दार्शनिक मानते हैं। दु:ख से निवृत्ति ही दर्शन का प्रयोजन है। सांख्यकारिका का प्रारम्भ दु:खत्रय से निवृति के उपाय की खोज से ही हुआ है। बुद्ध के अनुसार दु:ख का कारण प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसका विवेचन आगे के ग्रन्थ में किया जायेगा। तृतीय सत्य है कि दु:ख का निरोध सम्भव है। यही तो मुक्ति है कि दु:खों का आत्यान्तिक और ऐकान्तिक निरोध। दु:ख निरोध के मार्ग के आठ अङ्ग हैं। उन्हें आष्टाङ्गिक मार्ग कहा जाता है।

१. सम्यक् ज्ञान	५. सम्यक् आजीव
२. सम्यक् सङ्कल्प	६. सम्यक् व्यायाम
३. सम्यक् वचन	७. सम्यक् स्मृति
४. सम्यक् कर्मान्त	८. सम्यक् समाधि।

समुदायो दु:खकारणम्। तद् द्विविधं-प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्-'इदं प्रत्ययफलम्' इति। इदं कार्यं ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसमवायः, तन्मात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदिति सूत्रार्थः।

अनुवाद—समुदाय का तात्पर्य है दु:ख का कारण। यह दो प्रकार का है–प्रत्यय पर आधारित तथा हेतु पर आधारित। उसमें प्रत्यय पर आधारित का संग्राहक सूत्र है–यह प्रत्यय का फल है। (इदं प्रत्ययफलम्) इस कार्य के प्रति जो दूसरे हेतु हैं, उन हेतुओं का भाव ही प्रत्यय या कारणसमवाय (कारणसमुदाय) है। (यह कार्य) उस प्रत्यय मात्र का फल है न कि किसी चेतन का-सूत्र का यही अर्थ है।

विशेष—गौतम बुद्ध का दूसरा आर्य सत्य अन्यत्र दु:ख समुदाय नाम से मिलता है। समुदाय का अर्थ है कारण किन्तु यहाँ सर्वदर्शनसङ्ग्रह में इसे 'समुदाय' कहा गया है। चूँकि दु:ख के कारणों का एक समवाय है, इसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं इसलिए यहाँ समवायार्थक 'समुदाय' शब्द लिया गया है।

यथा बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां समवायाज्जायते। तत्र पृथिवीधातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातू रूपमौष्ण्यं च। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशधातुरवकाशं शब्दं च। ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

अनुवाद—जिस प्रकार बीज का कारण अंकुर छह धातुओं के समवाय से होता है। उसमें पृथिवीधातु अङ्कुर की कठोरता और गन्ध को उत्पन्न करती है। जलधातु चिकनाई तथा रस को उत्पन्न करता है। तेज धातु रूप तथा उष्णता को उत्पन्न करता है। वायुधातु स्पर्श तथा गति को उत्पन्न करता है। आकाश धातु अवकाश तथा शब्द के उत्पन्न करता है। ऋतु धातु यथायोग्य पृथिवी आदि को उत्पन्न करता है।

विशेष—बौद्धमतानुसार छह धातु ही मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं। जैसे अंकुर की उत्पत्ति में छह धातुओं का सहयोग है।

'अवकाश का अर्थ है—खाली जगह। ऋतु (मौसम) के कारण पृथ्वी आदि पाँच धातुओं में न्यूनाधिक्य आता है। प्रत्येक ऋतु के पदार्थ उस ऋतु की विशेषता को लेकर उत्पन्न होते हैं।

दु:खसमुदाय यानी दु:खकारण प्रत्यय पर है, उसका विवेचन यहाँ किया गया है। अर्थात् किसी वस्तु की उत्पत्ति में कारणों का समुदाय ही कारण है, न कि कोई चेतन शक्ति।

२१. *हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप*

हेतूपनिबन्धस्य च संग्राहकं सूत्रम्–उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्य-समुत्पादानुलोमता।' तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्यकारणरूपाणां या धर्मता कार्यकारणभावरूपा, एषा उत्पादादनुत्पादाद्वा स्थिता। यस्मिन्सति यदुत्पद्यते, यस्मिन्नसति यन्नोत्पद्यते तत्तस्य कारणस्य कार्यम्–इति। 'धर्मता' इत्यस्य विवरणं धर्मस्थितितेत्यादि। धर्मस्य कार्यस्य कारणनतिक्रमेण स्थितिः। स्वार्थिकः तल् प्रत्ययः, धर्मस्य कारणस्य कार्यं प्रति नियामकता।

अनुवाद—हेतु पर आधारित दु:खसमुदाय का संग्राहक सूत्र है—तथागत के मतानुसार उत्पत्ति या अनुत्पत्ति से स्थित इन धर्मों की धर्मता (धर्म स्थितिता) तथा धर्म नियामकता प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुकूल है।'' तथागत बुद्ध के मत में धर्मों के कार्यकारण रूपों की जो धर्मता कार्यकारण भावरूपा है, वह उत्पाद या अनुत्पाद से स्थित है। जिसके होने पर जो उत्पन्न होता है तथा जिसके न होने पर जो उत्पन्न नहीं होता वह उस कारण का कार्य है। धर्मता का अर्थ है–धर्मस्थितिता आदि। धर्म (कार्य) का कारण का उल्लङ्घन न करके स्थित रहना। स्वार्थ में तल् प्रत्यय हुआ है। धर्म कारण की कार्य के प्रति नियामकता।

विशेष—यहाँ दु:ख समुदाय (अर्थात् दु:खकारण) हेतु पर आधारित होता है—इसका विवेचन किया गया है। हेतु पर आधारित होने का तात्पर्य है कि दु:ख की एक क्रमिक कारण परम्परा है उस कारण परम्परा से दु:ख उत्पन्न होता है।

यहाँ उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति का तात्पर्य अन्वय तथा व्यतिरेक है। धर्म से कार्य तथा कारण दोनों का ग्रहण होता है। अत: धर्म को कार्य कारण कहा गया है। कार्य अर्थात् धर्म कारण को बिना छोड़ नहीं रहता है। इसे धर्मस्थितिता या धर्मता कहते हैं। दूसरा है धर्मनियामकता। यहाँ धर्म का अर्थ कारण है। यानी कि कारण का कार्य के प्रति नियन्त्रण रखना।

नन्वयं कार्यकारणभावश्चेतनमन्तरेण न संभवतीत्यत उक्तम्–प्रतीत्येति। कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादाऽनुलोमता=अनुसारिता या, सैव धर्मतोत्पादादनुत्पादाद्वा धर्माणां स्थिता। न चात्र कश्चिच्चेतनोऽधिष्ठातोपलभ्यत– इति सूत्रार्थः।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि यह कार्य कारणभाव चेतन के बिना सम्भव नहीं है, इसलिये कहा गया है—प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता (अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता) कारण के होने पर उसे प्रतीत करके अर्थात् उसे प्राप्त करके समुत्पाद (उत्पत्ति) में जो अनुलोमता (=अनुकूल होना) है वही धर्मता उत्पत्ति या अनुत्पत्ति के नियम से धर्मों में स्थित है। इसमें कोई चेतन अधिष्ठता उपलब्ध नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है।

विशेष—प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है—प्रतीत्य=कारण को प्राप्त करके, समुत्पाद=कार्य की उत्पत्ति। पूर्व परिच्छेद में धर्मता के दो रूप बतलाये गये थे—१. धर्मस्थितिता अर्थात् धर्म=कार्य का कारण के बिना न रहना। २. धर्म नियामकता अर्थात् धर्म=कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना। यह धर्मता प्रतीत्य समुत्पाद के अनुकूल (अनुलोम) है। अर्थात् बिना किसी चेतन पदार्थ के प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा ही धर्मता (कार्य कारण भावरूपता) होती है। तात्पर्य है कि कार्यकारणभाव चैतन्याश्रित नहीं है। अपितु अचेतन प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा कार्यकारण भाव होता है।

प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा–बीजादङ्कुरः,अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद् गर्भं, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते-'अहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः' इति। एवमाध्यात्मिकेष्वपि कारणद्वयमवगन्तव्यम्। 'पुरः स्थिते प्रमेयादौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः' इति न्यायेनोपरम्यते।

अनुवाद—प्रतीत्यसमुत्पाद के हेतु पर आधारित होने का उदाहरण है जैसे— बीज से अङ्कुर, अङ्कर से ग्रन्थि, ग्रन्थि से डंठल, डंठल (नाल) से कली, कली से टूँड़, टूँड़ से फूल तथा फूल से फल होता है। इस बाह्य कार्यकारणसमुदाय में कारण बीजादि तथा कार्य अङ्कुर आदि यह नहीं सोचते–"मैं अङ्कुर बना रहा हूँ या मैं बीज से बना हूँ। इसी प्रकार आध्यात्मिक पदार्थों में भी प्रत्यय पर आधारित तथा हेतु पर आधारित–दोनों ही कारणों को जान लेना चाहिये। अब इस न्याय से यही विरोध हो रहा है—प्रमेय रूपी समुद्र के सामने होने पर ग्रन्थ विस्तार के भय से (यहीं विराम हो रहा हैं)

विशेष—जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं के कार्यकारणभाव की परम्परा प्रत्यय तथा हेतु पर आधारित है जैसे ही आन्तारिक पदार्थों की कार्यकारणपरम्परा भी प्रत्यय तथा हेतु पर आधारित है। बाह्य या आन्तरिक पदार्थों की उत्पत्ति में किसी चेतन पदार्थ की भूमिका नहीं है। कार्य तथा कारण भी चेतन नहीं हैं। कार्य को ऐसी प्रतीति नहीं होती कि "मैं बन रहा हूँ" या कारण को ऐसी प्रतीति नहीं होती कि "मैं बना रहा हूँ।"

प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत १२ पदार्थ आते हैं। ये ही भवचक्र कहलाते हैं। आध्यात्मिक पदार्थों का यही कारण हैं। ये १२ पदार्थ हैं—

१.	अविद्या	२.	संस्कार
३.	विज्ञान	४.	नामरूप
५.	षडायतन	६.	स्पर्श
७.	वेदना	८.	तृष्णा
९.	उपादान	१०.	भव
११.	जाति	१२.	जरामरण

३०. सौत्रान्तिक-मत का उपसंहार

तदुभयनिरोधः। तदनन्तरं विमलज्ञानोदयो वा मुक्तिः। तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्त्वज्ञानम्। तच्च प्राचीनभावनाबलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। सूत्रस्यान्तं पृच्छतां कथितं-'भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः, सौत्रान्तिका भवन्तु' इति। भगवताऽभिहिततया सौत्रान्तिकसंज्ञा संजातेति।।

अनुवाद—इन दोनों का (दु:ख के हेतूपनिबन्धन कारण तथा प्रत्ययोपनिबन्ध कारण) निरोध होता है। उसके बाद विमल ज्ञान का उदय या मुक्ति होती है। उसके निरोध का उपाय ही मार्ग है। वह मार्ग है–तत्त्व ज्ञान। वह तत्त्वज्ञान प्राचीन भावना के कारण होता है, यही परम रहस्य है। सूत्र का अन्तिमभाग पूछने वालों को कहा गया—"आप लोगों ने सूत्र का अन्तिम भाग पूछा है इसलिये आप लोग सौत्रान्तिक हो।" भगवान् बुद्ध के कहने से उनका सौत्रान्तिक नाम हो गया।

विशेष—विलम ज्ञान का उदय ही मुक्ति कहलाता है। मुक्ति का उपाय भी तत्त्व ज्ञान ही है। साध्य (मुक्ति) तथा साधन दोनों ही ज्ञान रूप है। दु:ख निरोधोपाय आष्टाङ्गिकमार्ग है—

१. सम्यक् दृष्टि (ज्ञान)
२. सम्यक् संकल्प
३. सम्यक् वचन
४. सम्यक् कर्मान्त (पंचशील-सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, नशा का असेवन)
५. सम्यक् आजीव
६. सम्यक् व्यायाम
७. सम्यक् स्मृति
८. सम्यक् समाधि

सूत्र के अन्तिम भाग के सम्बन्ध में प्रश्न करने के कारण ये सौत्रान्तिक कहलाये हैं।

३१. वैभाषिक-मत-बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद

केचन बौद्धाः—बाह्येषु गन्धादिष्वान्तरेषु रूपादिस्कन्धेषु सत्स्वपि, तत्रानास्थामुत्पादयितुं सर्वं शून्यमिति प्राथमिकान्विनेयान् अचकथद्भगवान्, द्वितीयांस्तु विज्ञानमात्रग्रहाविष्टान्विज्ञानमेवैकं सदिति, तृतीयानुभयं सत्यमित्या-स्थितान्विज्ञेयमनुमेयमिति, सेयं विरुद्धा भाषेति वर्णयन्तः—वैभाषिकाख्यया ख्याताः।

अनुवाद—बाह्य गन्धादि विषय तथा आन्तरिक रूपादि स्कन्धों के होने पर भी उनमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए भगवान् बुद्ध ने प्रारम्भिक शिष्यों को "सब कुछ शून्य है" ऐसा कहा, दूसरे शिष्य जो कि केवल विज्ञान का ग्रहण करने में लगे थे उन्हें "विज्ञान ही सत् है "ऐसा कहा तथा तीसरे शिष्य जो कि "बाह्य तथा आन्तरिक पदार्थ दोनों ही सत्य हैं" ऐसा मानते थे उन्हें "बाह्य पदार्थ अनुमेय है" ऐसा कहा—इस प्रकार की विरुद्ध भाषा (बात) का वर्णन करने के कारण कुछ बौद्ध लोग 'वैभाषिक' नाम से प्रसिद्ध हुए।

विशेष—यहाँ जो तीन मत दिये गये हैं, क्रमशः वे तीनों मत माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिकों के हैं। भगवान् बुद्ध ने इन तीनों के मतों को बतलाया—इस तरह की विरुद्ध बात कहने वाले लोग ही वैभाषिक हो गये।

अन्य मत के अनुसार जब कनिष्क के समय बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई थी उस समय 'कात्यायनीपुत्र' नामक विद्वान् के द्वारा "ज्ञान प्रस्थान शास्त्र" नामक ग्रन्थ लिखा गया उस ग्रन्थ की एक टीका थी, जिसका नाम 'विभाषा था। इसी टीका को मानने वाले बौद्ध लोग 'वैभाषिक' कहलाये।

एषा हि तेषां परिभाषा समुन्मिषति। विज्ञेयानुमेयत्ववादे प्रात्यक्षिकस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावेन, व्यातिसंवेदनस्थानाभावेन अनुमानप्रवृत्त्यनुपपत्तिः सकललोकानुभवविरोधश्च।

ततश्चार्थो द्विविधः—ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र ग्रहणं निर्विकल्पकरूपं प्रमाणम्। कल्पनापोढत्वात्। अध्यवसायः सविकल्पकरूपोऽप्रमाणम्। कल्पना-ज्ञानत्वात्।

अनुवाद—यह उनकी परिभाषा दिखलाई पड़ती है। जिज्ञेय पदार्थों को अनुमेय मानने के पक्ष में, प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाले किसी भी अर्थ के अभाव में, व्याप्तिज्ञान के स्थान का अभाव होने पर अनुमान प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है तथा सभी लोगों के अनुभव का भी विरोध है।

इसलिये अर्थ दो प्रकार कहा है–ग्राह्य तथा अध्यवसेय। उनमें निर्विकल्पक के रूप में ग्रहण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, कल्पना से रहित होने के कारण। सविकल्पक रूप अध्यवसाय प्रमाण नहीं है, कल्पना ज्ञान होने के कारण।

विशेष—सौत्रान्तिक बौद्धों के मतानुसार सभी बाह्य वस्तुएँ अनुमेय हैं। इसलिये कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है। जब कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, तो अग्नि तथा धूम की व्याप्ति भी नहीं बन सकती है। व्याप्ति तो तभी बनती है जब कई बार धूम तथा अग्नि को एकसाथ प्रत्यक्ष देख लें। अत: बाह्य पदार्थ को अनुमेय भी नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि बाह्य पदार्थ को अनुमेय मानने पर लौकिक अनुभव का भी विरोध हेगा। लोक में कोई भी व्याप्ति बाह्य पदार्थों का अप्रत्यक्ष नहीं कहता।

बौद्धों के मतानुसार बाह्य विषय दो प्रकार के हैं—ग्राह्य तथा अध्यवसेय। ग्राह्य को ही निर्विकल्पक कहते हैं तथा अध्यवसेय को सविकल्पक कहा जाता है। कल्पना या प्रकार से रहित ज्ञान निर्विकल्क है। कल्पना अनेक प्रकार की होती है–जातिकल्पना,

गुणकल्पना, क्रिया कल्पना, द्रव्यकल्पना आदि। जैसे–किसी वस्तु को दूर से देखने पर "यह कुछ है" इस प्रकार का कल्पनारहित ज्ञान विर्विकल्पक है। कल्पना से युक्त ज्ञान सविकल्पक है। जैसे–यह पुस्तक है। (द्रव्य-कल्पना), यह शुक्ल है (गुण कल्पना), यह ब्राह्मण है (जाति कल्पना), यह चल रहा है (क्रिया कल्पना)। बौद्धमतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है। सविकल्पक ज्ञान, प्रामाणिक नहीं है।

३२. *निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है*

तदुक्तम्–

२४. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् ।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः ।। इति।

२५. ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा ।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम् ।। इति च।।

अनुवाद—कल्पना से रहित अभ्रान्त ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है। वस्तु की प्रतीति से युक्त ज्ञान सविकल्पक है। यह ज्ञान विसंवादी होने के कारण भ्रम है।

ग्राह्य ही वस्तु तथा उसका ग्रहण ही प्रमाण है। उसके अतिरिक्त जो है, वह न तो वस्तु है और न ही प्रमाण है, वह केवल शब्द, लिङ्ग तथा इन्द्रिय आदि से उत्पन्न है।

विशेष—सविकल्पक ज्ञान शब्द, लिङ्ग या इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है। "आदि" पद से उपमानादि प्रमाणों का ग्रहण होता है। शब्द का तात्पर्य है–शब्द प्रमाण। लिङ्ग का अर्थ है-हेतु। लीनम् अर्थ गमयति इति लिङ्गम्। जो अज्ञात (साध्य) का ज्ञान कराता है वह लिङ्ग है। जैसे–धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान। यहाँ 'धूम' लिङ्ग है। 'इन्द्रिय' का तात्पर्य है–प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्षप्रमाण से भी सविकल्पक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक ज्ञान में शब्दादि कल्पनाएँ नहीं होती हैं अतः वही ज्ञान प्रमाण है।

ननु सविकल्पकस्याप्रामाण्ये कथं ततः प्रवृत्तस्यार्थप्राप्तिः संवादश्चोपपद्येयातामिति चेत्–न तद् भद्रम्। मणिप्रभाविषयमणिविकल्पन्यायेन पारंपर्येणार्थप्रतिलम्भसंभवेन तदुपपत्तेः। अवशिष्टं सौत्रान्तिकप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

अनुवाद—यदि कोई यह कहे कि सविकल्पक ज्ञान का प्रामाण्य न होने से उसके द्वारा प्रवृत्त व्यक्ति को अर्थ (पदार्थ) की प्राप्ति कैसे हो सकती है तथा संवाद भी उत्पन्न हो सकता है तो यह ठीक नहीं है। मणि की प्रभा को देखकर मणि होने का विकल्प करके उसी के माध्यम से जैसे मणि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार परम्परा से पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है अतः संवाद की उत्पत्ति हो सकती है। अवशिष्ट बात सौत्रान्तिक मत के प्रस्ताव में कही गयी है, इसलिए यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है।

विशेष—जो वस्तु जैसी कही जाए उस वस्तु का वैसा ही उपलब्ध होना संवाद है तथा वैसा उपलब्ध न होना विसंवाद है।

मणि की प्रभा को देखकर पहले कोई उसे मणि समझकर उठाने चलता है

लेकिन फिर उसी प्रभा की परम्परा से मणि तक भी पहुँच जाता हैं। उसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान को भ्रम मानने पर भी परम्परा या वस्तु की प्राप्ति हो सकती है।

३३. तत्त्व की अभिन्नता-मार्गों में भेद

न च विनेयाशयानुरोधेनोपदेशभेदः साम्प्रदायिको न भवतीति भणितव्यम्। यतो भणितं बोधिचित्तविवरणे—

२६. देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः ।
भिद्यन्ते बहुधो लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ।।
२७. गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा ।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा ।। इति।

अनुवाद—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि शिष्यों की इच्छा के कारण उपदेश में भेद होना साम्प्रदायिक नहीं होता। क्योंकि बोधिचित्तविवरण में कहा गया है—लोगों की इच्छा के अनुरूप लोकोपदेशकों का उपदेश लोक में बहुत से उपायों से बहुत प्रकार से भिन्न-भिन्न होता है।

(बुद्ध का) शून्य तथा अद्वयरूप अभिन्न उपदेश भी भिन्न-भिन्न होता है। (वे उपदेश) कहीं गम्भीर, कहीं स्पष्ट तो कहीं दोनो (गम्भीर तथा स्पष्ट) होते हैं।

विशेष—यद्यपि बुद्ध भगवान् ने तो एक ही प्रकार का उपदेश दिया, लेकिन शिष्यों की इच्छा के कारण उस उपदेश के चार प्रकार हो गये। यहीं, बौद्धों के चार सम्प्रदाय हुए। अत: ये चारों मत भी साम्प्रदायिक (पारम्परिक) ही मानने चाहिये।

३४. द्वादश आयतनों की पूजा

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्–

२८. अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः ।
२९. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ।। इति।।

अनुवाद—द्वादश आयतन की पूजा कल्याण कारक है ऐसा बौद्धमत में प्रसिद्ध हैं:—

बहुत सा धन कमा करके चारों ओर (स्थित) बारह आयतनों की पूजा करनी चाहिये, अन्य वस्तु की पूजा करने से क्या लाभ हैं?

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि-इनको विद्वानों ने बारह आयतन कहा है।

विशेष—बारह आयतनों की पूजा का तात्पर्य है उनको नियन्त्रित करना तथा उनके द्वारा सम्यक् कर्म करना। आँख, नाक, कान, त्वक् तथा जिह्वा ये ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ, पैर, मुख, मलेन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय–ये ५ कर्मेन्द्रिय हैं।

३५. बौद्ध-मत का संग्रह

विवेकविलासे बौद्धमतमित्थमभ्यधायि–

३०. बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम् ।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ।।

३१. दुःखमायततं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ।।

अनुवाद—'विवेक विलास' ग्रन्थ में बौद्धमत इस प्रकार बतलाया गया है—

बौद्धों के देवता बुद्ध हैं तथा जगत् क्षणिक है। आर्यसत्य नामक चार तत्त्व हैं, जो कि क्रमशः इस प्रकार हैं—

दुःख, दुःख का आयतन (स्थान), दुःख का समुदाय (कारण) तथा मार्ग (दुःख निरोध का मार्ग)। अब क्रमशः इन चारों की व्याख्या सुनिये।

विशेष—पूर्व में चार आर्य सत्य बतलाये गये थे-१. दुःख, २. दुःख का कारण, ३. दुःख निरोध, ४. दुःखनिरोधमार्ग।

लेकिन 'विवेक विलास' ग्रन्थ में उक्त में चारों आर्य सत्य पूर्वोक्त से भिन्न हैं।

३२. दुखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।।

३३. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु ।।

३४. रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ।।

अनुवाद—सांसारिक प्राणी के पाँच स्कन्ध ही दुःख कहे गये हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, तथा रूप।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय, मन (मानस) तथा धर्म का स्थान अर्थात् बुद्धि ये १२ आयतन हैं।

जिसके कारण मनुष्यों के हृदय में राग (आसक्ति) आदि (आदि पद से द्वेष, कमा, क्रोध, आदि का ग्रहण होता है) की उत्पत्ति होती है तथा जो आत्मा के अपने स्वभाव के रूप में प्रसिद्ध है उसे समुदाय कहा जाता है। (प्रतीत्य समुत्पाद ही समुदाय है।)

३५. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ।।

३६. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ।।

अनुवाद—सभी संस्कार क्षणिक हैं, इस प्रकार की जो स्थिर वासना है। उसे ही मार्ग समझना चाहिये तथा उसे ही मोक्ष कहा जाता है।

(बौद्धों के मत में) प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण हैं। वैभाषिक आदि चार प्रस्थान के अनुयायियों को बौद्ध कहा जाता हैं।

३७. अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ।।
३८. आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ।।

अनुवाद—वैभाषिक ज्ञान से युक्त विषय को मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य विषय को प्रत्यक्षग्राह्य नहीं मानते। योगाचार के मत में बुद्धि (ज्ञान) आकार से युक्त है। माध्यमिक लोग केवल ज्ञान को अपने में स्थित मानते हैं।

विशेष—बौद्धों के पूर्वोक्त चारों मतों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्या च सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ।।

३९. रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ।।
४०. कृतिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ।।

(वि०वि० ८।२६५-७५) इति।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे बौद्धदर्शनम्।।

अनुवाद—चारों प्रकार के बौद्धों के लिये राग (आसक्ति) आदि ज्ञान की परम्परा की वासना के उच्छेद से उत्पन्न मुक्ति कही गयी है।

चर्मधारण, कमण्डलु, मुण्डन, चीरवस्त्र, पूर्वाह्ण में भोजन, सङ्घ में रहना, लाल वस्त्र पहनना—इसे बौद्ध भिक्षुओं ने स्वीकार किया है।

।। इति बौद्धदर्शनम् ।।

अध्याय-३
आर्हत-दर्शनम्

जीवादितत्त्वनिचयं समुपादिशद्यो
ज्ञानप्रपञ्चमखिलं सरलं तथैव।
संदिश्य दर्शनमथापि चरित्रमेवं
जैनो भवेत्पथि निदर्शक एष वीरः।। -ऋषिः

१. क्षणिकत्व भावना का खण्डन

तदित्थं मुक्तकच्छानां मतमसहमाना विवसनाः कथंचित्स्थायित्वमास्थाय क्षणिकत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति। यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी, तदैहलौकिक-पारलौकिकफलसाधनसम्पादनं विफलं भवेत्।

अनुवाद—तो इस प्रकार कच्छ न लगाने वाले बौद्धों के मत को सहन न करते हुए वस्त्रहीन (दिगम्बर जैन) लोग किसी प्रकार से स्थायित्व का आश्रय लेकर क्षणिकत्व पक्ष पर आक्षेप करते हैं। यदि किसी स्थायी आत्मा को न माना जाए तो लौकिक तथा पारलौकिक-दोनों ही फलों के साधन का सम्पादन विफल हो जायेगा।

विशेष—सनातन धर्म में कच्छ अर्थात् धोती में पिछुआ लगाया जाता है। बौद्ध लोग कच्छ नहीं लगाते। वे लुँगी पहनते हैं। जैन मत वाले तो दिगम्बर ही रहते हैं। जैन के दो सम्प्रदाय हैं–श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र पहनने वाले) तथा दिगम्बर (वस्त्रहीन)।

बौद्ध मत में क्षणिकवाद माना जाता है, लेकिन जैन लोग वस्तु का स्थायित्व स्वीकार करते हैं। वे आत्मा को स्थायी तथा शरीरराकारपरिमित मानते हैं। आत्मा ही इहलोक में किये कर्मों के फल को परलोक में भोगता है। अतः यदि आत्मा को नित्य न कहा जाए तो कोई भी व्यक्ति पारलौकिक फल देने वाले पुण्य कर्मों में कैसे प्रवृत्त होगा?

न ह्येतत्सम्भवत्यन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्त इति। तस्माद्योऽहं प्राक् कर्म अकरवं सोऽहं सम्प्रति तत्फलं भुञ्ज इति पूर्वापरकालानुयायिनः स्थायिनस्तस्य स्पष्टप्रमाणावसिततया पूर्वापरभागविकलकालकलावस्थितिलक्षणक्षणिकता परीक्षकैरर्हद्भिर्न परिग्रहार्हा।।

अनुवाद—यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति काम करे और अन्य व्यक्ति फल भुगते। इसलिये जिस मुझने पहले कर्म किया है, वही मैं अब उसका फल भोग रहा हूँ–इस प्रकार से पूर्व तथा अपर (बाद के) काल का अनुसरण करने वाले उस स्थायी आत्मा में स्पष्टतः प्रमाण निश्चित होने के कारण, परीक्षा करने वाले जैनों ने पूर्वापर के भाग से रहित तथा काल के कला अंश तक ही स्थित रहने वाली क्षणिकता को स्वीकार नहीं किया है।

विशेष—आत्मा को नित्य मानने पर ही कर्म के कर्ता तथा भोक्ता दोनों का एकत्व हो पाता है। बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है। अर्थात् काल का जो कला नामक अतिसूक्ष्म भेद है उतने समय तक ही किसी वस्तु की स्थिति रहती है। जैनों ने क्षणिकवाद को नहीं माना है। वे आत्मा को स्थायी मानते हैं।

२. क्षणिक-पक्ष में बौद्धों की युक्ति

अथ मन्येथाः—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते?

इति न्यायेन 'यत्सत्तत्क्षणिकम्' इत्यादिना प्रमाणेन क्षणिकतायाः प्रमिततया, तदनुसारेण समानसंतानवर्तिनामेव प्राचीनः प्रत्ययः कर्मकर्त्ता, तदुत्तरः प्रत्ययः फलभोक्ता।

अनुवाद—अब यदि यह माना जाए कि प्रमाण से युक्त होने के कारण आये हुए इस क्षणिकत्व के प्रवाह को कौन रोक सकता है?

इस न्याय से "जो सत् है, वह क्षणिक है" इस प्रमाण से क्षणिकत्व के सिद्ध हो जाने से उसके अनुसार एक ही परम्परा में रहने वाले प्रत्ययों में पहला प्रत्यय कर्म करता है तथा बाद का प्रत्यय फल भोगता है।

विशेष—बौद्ध मत में 'यत्सत् तत्क्षणिकम्' इस व्याप्ति को दर्शाया जा चुका है। जहाँ यह बताया गया है कि एक परम्परा में रहने वाले प्रत्ययों में सभी प्रत्यय क्षणिक ही हैं किन्तु परम्परा के एक होने से कर्ता तथा भोक्ता का एक होना उत्पन्न हो जाता है।

न चातिप्रसङ्गः। कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्। यथा मधुर-रसभावितानामाम्रबीजानां परिकर्षितायां भूमावुप्तानामङ्कुरकाण्डस्कन्धशाखा-पल्लवादिषु तद्द्वारा परम्परया फले माधुर्यनियमः। यथा वा लाक्षारसावसिक्तानां कार्पासबीजादीनामङ्कुरादिपारम्पर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियमः।

अनुवाद—ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव नियामक है। जिस प्रकार मधुर रस में डुबोये गये आम के बीजों को जोती हुई भूमि में बोने पर उनके अङ्कुर, जोड़, तना, शाखा, पत्ते आदि में तथा उन्हीं के माध्यम से परम्परया फल में भी मधुरता आ जाती हैं या जिस प्रकार लाह के रस में डूबे हुए कपास के बीज आदि की लालिमा अङ्कुरादि की परम्परा से कपास में आ जाती है।

विशेष—एक परम्परा के सभी प्रत्यय क्षणिक होने पर भी उनमें पूर्व प्रत्यय कारण है तथा उत्तर प्रत्यय कार्य है। अतः उन प्रत्ययों के क्षणिक होने पर भी कार्य कारण भाव उत्पन्न हो जाता है।

यथोक्तम्—

१. यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा।।

२. कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते।
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यसि? ।। इति।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—

जिस परम्परा में कर्म की वासना लगा दी जाती हैं, वही फल प्राप्त होता है जैसे कि कपास में लालिमा।

बीजौरे आदि के फूल में जो लाह का सिञ्चन किया जाता हैं, उसमें किसी शक्ति का आधान किया जाता है। क्या तुम उसे नहीं देखते?

३. जैनों द्वारा उपर्युक्त मत का खंडन

तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा। नाद्यः। भवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धावस्यानुमानस्यानुत्थानात्। न द्वितीयः। तेनैव न्यायेन सर्वत्र क्षणिकत्वसिद्धौ सत्त्वानुमानवैफल्यापत्तेः। अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमित्यङ्गीकारे मिथ्यासर्पदंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापादनाच्च। अत एवोक्तम्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।

अनुवाद—यह भी काश या कुशा के सहारे के समान है, क्योंकि दो विकल्प को यह मत सह नहीं सकता। जलधर (बादल) आदि के दृष्टान्त में क्षणिकत्व इसी प्रमाण से सिद्ध है या अन्य प्रमाण से। प्रथम विकल्प ठीक नहीं, है, क्योंकि आपके द्वारा अभिमत क्षणिकत्व कभीं भी दृष्ट न होने से दृष्टान्तासिद्ध होने के कारण यह अनुमान ही नहीं उठाता। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। इसी न्याय से सर्वत्र क्षणिकत्व की सिद्दि हो जाने पर "सत्त्व' हेतु अनुमान को विफल मानने की आपत्ति आ जायेगी। अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है यह मानने पर मिथ्या सर्व देश आदि को भी अर्थक्रियाकारी होने के कारण उसे सत् मानना पड़ेगा। अत: कहा गया है—उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से युक्त ही सत् है।

विशेष—जैनों के दो विकल्प देकर क्षणिकवाद का खण्डन किया है। पहला विकल्प यह है कि "यत् सत् तत् क्षणिकम्" इस व्याप्ति को उपस्थित कर जलधर को क्षणिक सिद्ध किया गया है:—

जलधरः क्षणिकः सत्त्वात्।

परन्तु इस अनुमान में दृष्टान्तासिद्ध दोष है। किसी भी व्याप्ति का दृष्टान्त होना आवश्यक है अत: "यत् सत् तत् क्षणिकम्" इस व्याप्ति का भी कुछ दृष्टान्त (उदाहरण) होना चाहिये। किन्तु इस व्याप्ति का दृष्टान्त तो तब बनेगा, जब क्षणिकत्व कहीं पर दिखे। जब हर वस्तु क्षणिक ही है तो वह दिखेगी कैसे? अत: दृष्टान्त न मिलने के कारण क्षणिकत्व साध्यक तथा सत्त्वहेतुक अनुमान ही नहीं बनता।

दूसरा विकल्प यह है कि जलधर में क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमानातिरिक्तप्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है। यदि यह विकल्प माना जाए अर्थात् अन्य प्रमाणों से ही क्षणिकत्व सिद्ध है—यह कहा जाए तो "सत्त्व" हेतु देकर क्षणिकत्व की सिद्धि करना ही बेकार हो जाएगा। क्योंकि प्रत्यक्षादि से ही क्षणिकत्व सिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने अर्थक्रियाकारी को सत् कहा था। लेकिन सर्पदंश का भ्रम होने पर भी भय, मूर्च्छा आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं। जब साँप ने काटा नहीं, फिर

भी भ्रमवश "सर्पदंश हुआ है" यह मानकर लोग भयभीत या मूर्च्छित भी हो जाया करते हैं। इस प्रकार अर्थक्रियाकारी तो मिथ्या सर्पदंश में भी है लेकिन उसे कोई सत् नहीं कहता।

अत: जैनमत के अनुसार सत् का लक्षण है—जिसमें उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता (स्थिति) हो, वही सत् है।

४. क्षणिकत्वाद के खण्डन की दूसरी विधि

अथोच्यते-सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादिनामनेकान्ततावादस्येष्टतया विरोधासिद्धेः। यदुक्तं कार्पासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। युक्तेरनुक्तेः। तत्रापि निरन्वयनाशस्यानङ्गीकाराच्च।

अनुवाद—अब (हम जैनों द्वारा) बताया जा रहा है—सामर्थ्य तथा समार्थ्य रूप विरुद्ध धर्मों की स्थिति से क्षणिकत्व की सिद्धि होती हैं, यह भी ठीक नहीं है। स्याद्वादियों का अनेकान्तवाद अभीष्ट होने के कारण विरोध (सामर्थ्यासामर्थ्यरूप, विरुद्ध धर्मों की स्थिति) की सिद्धि नहीं होती। जो यह कपास आदि का दृष्टान्त बतलाया गया यह भी केवल कथन मात्र है, क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं बतलायी गयी हैं। उनमें भी निरन्वय नाश को स्वीकार नहीं किया जाता।

विशेष—बौद्धमत के निरूपण के प्रसङ्ग पर स्थायी माने जाने वाले पदार्थों में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य को अन्वयानुमान तथा व्यतिरेकानुमान से सिद्ध किया जा चुका है। वहाँ (बौद्ध, दर्शन, परिच्छेद-१३) यह बताया गया है कि जिस वस्तु में विरुद्ध धर्म होते हैं, वह नाना (क्षणिक) होती है। अत: सामर्थ्य तथा असमार्थ्य इन दो विरुद्ध धर्मों के रहने से सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं।

लेकिन यह तो बौद्ध मत है। बौद्ध लोग एक ही पदार्थ में विरूद्ध धर्मों को नहीं मानते। जैनमत में ऐसा नहीं है। जैन लाग अनेकान्तवाद मानते हैं। उनके मतानुसार एक पदार्थ में दो विरूद्ध धर्म रह सकते हैं। अत: किसी भी पदार्थ को पूर्णत: वर्णित नहीं किया जा सकता है। हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु के एक ही पहलू को देख पाता है। इसीलिए जैनों ने "स्याद्वाद" माना है। वे प्रत्येक कथन के पूर्व "स्यात्" (शायद या सम्भवत:) शब्द जोड़ते है। उनके अनुसार किसी भी कथन को सात प्रकार से कहा जा सकता है। इसे ही सप्तभङ्गी नय कहते हैं। ये सात नय हैं—

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति नास्ति च
४. स्यात् अवक्तव्यम्
५. स्यात् अस्ति अवक्तव्यम् च
६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यम् च
७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यम् च

इस प्रकार जब जैनमतानुसार किसी वस्तु में विरुद्ध धर्मों के एक साथ रहने का विरोध ही नहीं है, तो फिर इस विरोध को मानकर क्षणिकतत्व की सिद्धि ही कैसे होगी?

बौद्धों ने कार्पास का उदाहरण देकर पीछे यह बतलाया था कि लाक्षारस में कपास के बीज को डुबाने पर उसकी लालिमा परम्परया कपास तक चली जाती है अर्थात् बीज का नाश होने पर जो अङ्कुर उत्पन्न होता है उसमें बीज से लालिमा चली जाती हैं। यह तो सान्वय (सम्बन्ध से युक्त) नाश हुआ। बीज क्षणिक है। उसका नाश हो गया। लेकिन लालिमा नष्ट नहीं हुई, वह अङ्कुर में चली गयी। जबकि बीज का निरन्वय नाश होना चाहिये था। इस प्रकार बौद्धों ने निरन्वय नाश को स्वीकार नहीं किया, फिर भी वे क्षणिकवाद को मानने का ढोल बजाते फिरते हैं।

न च संतानिव्यतिरेकेण संतानः प्रमाणपदवीमुपारोढुमर्हति। तदुक्तम्—

३. सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम् ।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते ।। इति।।

न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसङ्गं भङ्क्तुमर्हति। तथा ह्युपाध्याय-बुद्ध्यनुभूतस्य शिष्यबुद्धिः स्मरेत्तदुपचितकर्मफलमनुभवेद्वा।

अनुवाद—सन्तानी (परम्परा=सन्तान का सम्बन्धी) के बिना सन्तान=परम्परा को प्रमाणपदवी पर नहीं रखा जाता। जैसा कि कहा गया है—

एक जाति, क्रमशः उत्पन्न तथा परस्पर जुड़े हुए जो व्यक्ति हैं उन व्यक्तियों की सन्तान=परम्परा को एक ही माना जाता है।

कार्य-कारण भाव का नियम इस अतिप्रसङ्ग को रोक नहीं सकता है। ऐसा मानने पर तो अध्यापक की बुद्धि में अनुभूत विषय को शिष्य की बुद्धि भी स्मरण करने लगेगी या संचित कर्म फल का अनुभव करने लगेगी।

विशेष—बौद्धों का यह मत है कि सभी वस्तुएँ क्षणिक होने पर भी वे सभी एक परम्परा में स्थित रहती हैं। इस परम्परा को ही 'सन्तान' कहा जाता है तथा उस परम्परा में स्थित क्षणिक पदार्थों को 'सन्तानी' कहते हैं। यद्यपि सभी पदार्थ तो क्षणिक हैं, वे केवल व्यक्तिमात्र हैं, सजातीय हैं, लेकिन उन पदार्थों की परम्परा को एक ही माना जाता है। इसका कारण बौद्धों ने कार्य कारण भाव को बताया है। इस परम्परा में पूर्व पदार्थ उत्तरपदार्थ के कारण है। लेकिन ऐसा मानने पर व्यभिचार दोष आता है। अध्यापक की बुद्धि से शिष्य की बुद्धि उत्पन्न होती है। उन दोनों में कार्यकारण भाव है।

अध्यापक के उपदेश बाद अध्यापक की बुद्धि से दो तरह की बुद्धियाँ उत्पन्न होती है। एक तो शिष्य की बुद्धि तथा दूसरी अध्यापक की ही अपनी बुद्धि या अनुभव। इसमें अध्यापक का अनुभव उनकी ही बुद्धि से उत्पन्न होता है तथा शिष्य का अनुभव भी अध्यापक की ही बुद्धि से उत्पन्न होता है। लेकिन यदि दोनों परम्पराओं को एक माना जाए तो अध्यापक को होने वाला अनुभ्व शिष्य करने लगेगा, जबकि ऐसा होता नहीं। अतः कार्यकारणभाव को परम्परा के एक होने में नियामक नहीं माना जा सकता।

तथा च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। तदुक्तं सिद्धसेनवाक्यकारेण-

४. **कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।**
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ।।

(अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका १८) इति।

अनुवाद—इसी प्रकार कृतप्रणाश तथा अकृताभ्यागम इन दोषों का भी प्रसंग आ जायेगा। जैसा कि सिद्धसेन के वार्तिककार ने कहा है—कृत कर्म का नाश, अकृत कर्म का भोग, संसार विनाश, मोक्ष का विनाश तथा स्मृति का विनाश इन सभी दोषों को देखकर इस श्रेष्ठ महासाहसी (बौद्धो) ने क्षणिकवाद मानने की इच्छा की है।

विशेष—सिद्धसेन द्वारा रचित ग्रन्थ के वार्तिक कार ने कृतप्राणाश इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है। मूलतः यह कारिका हेमचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका से है। इसी ग्रन्थ पर मल्लिषेण ने एक टीका लिखी है, जिसका नाम स्याद्वादमञ्जरी है।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि क्षणिकवाद मानने पर अधोलिखित पांच दोष आते हैं—

१. कृतप्रणाश—यदि क्षणिकवाद माना जाए तो कृतप्रणाश दोष आता है। अर्थात् किया गया कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है क्योंकि जो कर्म किया गया है, वह जब पूर्वक्षण में ही नष्ट हो गया, तो वह कर्म कैसे फल प्रदान करेगा? जिस व्यक्ति ने कर्म किया है, वह व्यक्ति भी क्षण भर में बदल गया तो फिर फल पायेगा कौन? यह दोष क्षणभङ्गवाद में आता है।

२. अकृतकर्मभोग—इसी तरह फल का भोग उस व्यक्ति को करना पड़ेगा जिसके कर्म किया ही नहीं।

३. भवभंग—मनुष्य पुनर्जन्म इसलिये पाता है कि पूर्व में किये कर्मों को वह भोग सके, लेकिन जब कर्म किसी ने किया और फल कोई अन्य भोगेगा, तो पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता ही क्या रहेगी?

४. मोक्षभंग—जब सब कुछ क्षणिक है। आत्मा भी क्षणिक है, तो मुक्ति के लिये प्रयास कौन आत्मा करेगी? अतः मोक्ष मानना भी ठीक नहीं है।

५. स्मृतिभंग—जब क्षण-क्षण में व्यक्ति बदल रहे हैं, तो स्मृति की क्या आवश्यकता है?

ये पाँच दोष क्षणभङ्गवाद पक्ष में आते हैं। इसीलिए जैन इन्हें महासाहसी कह रहे है। पाँच दोष आने पर भी बौद्ध क्षणभङ्गवाद को मानते हैं, तो निश्चित ही वे महासाहसी हैं।

५. क्षणिकत्व-पक्ष में ग्राहय-ग्राहक-भाव का न होना

किं च क्षणिकत्व-पक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेयकाले ज्ञानस्यासत्त्वेन च ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ सकललोकयात्रास्तमियात्। न च समसमयवर्तिता शङ्कनीया। सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभावासम्भवेनाग्राह्यस्यालम्बनप्रत्ययत्वानुपपत्तेः।

अनुवाद—और क्षणिकत्व पक्ष में ज्ञान के समय में ज्ञेय की सत्ता न रहने से तथा ज्ञेय पदार्थ के समय में ज्ञान की सत्ता न रहने से ग्राह्यग्राहकभाव की अनुपत्ति हो जाने से समस्त लोगों की दिनचर्या समाप्त हो जायेगी। दोनों (ज्ञान तथा ज्ञेय) के एकसमय में रहने की शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि बायें और दायें सींग के समान ही इन दोनों (ज्ञान तथा ज्ञेय) में कार्य-कारण भाव सम्भव न होने से अग्राह्य वस्तु की आलम्बन प्रत्यय के रूप में भी अनुपपत्ति हो जायेगी।

विशेष—यदि सभी पदार्थों को क्षणिक माना जाए, तो ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों को क्षणिक कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ज्ञान की सत्ता के समय ज्ञेय की सत्ता नहीं रहेगी तथा ज्ञेय पदार्थ के समय ज्ञान की सत्ता नहीं रहेगी। जिस प्रकार गौ के दोनों सींग एक-साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः उन दोनों में कार्य-कारण भाव नहीं माना जाता। उसी प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय को समान कालिक मानने पर उनमें कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में नीलादि विषय जिन्हें अभी तक बौद्ध मत में आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है, वे जब ज्ञान के ग्राह्य ही नहीं बन पाते, तो उन्हें आलम्बन प्रत्यय कहना भी सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है।

६. *ज्ञान के साकार होने में दोष*

अथ भिन्नकालस्यापि तस्याकारार्पकत्वेन ग्राह्यत्वम्-तदप्यपेशलम्। क्षणिकस्य ज्ञानस्याकारार्पकताश्रयताया दुर्वचत्वेन साकारज्ञानवादप्रत्ययादेशात्।

निराकारज्ञानवादेऽपि योग्यतावशेन प्रतिकर्मव्यवस्थायाः स्थितत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहक-मनुभूयते, न तु दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम्।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों का भिन्न-भिन्न काल होने पर भी ज्ञेय पदार्थ ग्राह्य इसलिये बनता है क्योंकि वह ज्ञान में अपने आकार को छोड़ देता है। यह भी ठीक नहीं है। क्षणिक ज्ञान आकारार्पकता का आश्रय लेता है–यह कहना कठिन है। इसलिये साकार ज्ञान के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

निराकार ज्ञान का सिद्धान्त मानने पर भी योग्यता के कारण प्रत्येक कर्म की व्यवस्था तो है ही। जैसे कि प्रत्यक्ष के द्वारा विषय के आकार से रहित ज्ञान भी प्रत्येक पुरुष में व्यक्तिगत रूप से घटादि के ग्राहक के रूप में अनुभूत होता है, दर्पणादि के समान केवल प्रतिबिम्ब मात्र का ग्रहण नहीं करता।

विशेष—ज्ञान ज्ञेय के आकार को ग्रहण करता है या नहीं या दूसरे शब्दों में ज्ञान साकार है या निराकार-यह समस्या उपस्थित होती है। चूँकि ज्ञान भी क्षणिक है, तो वह ज्ञेय के आकार को ग्रहण करेगा कैसे? ज्ञेय का आकार जिस ज्ञान में आता है वह तो क्षण भर में ही नष्ट हो गया, फिर ज्ञेय का आकार ज्ञान में आता ही कहाँ है? यदि ज्ञान को निराकार माना जाए, तो यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान योग्यता के अनुसार विषयों का ग्रहण करता है। चाक्षुष ज्ञान रूप का ही ग्रहण करता है, अन्य रसादि का नहीं। स्पार्शन

ज्ञान स्पर्श का, रासन ज्ञान रस का, श्रावण ज्ञान शब्द का ही ग्रहण करता है। इस तरह योग्यता के कारण तत् तत् ज्ञान तत् तत् विषयों का ग्रहण करते हैं।

जिस प्रकार दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, उस तरह ज्ञान प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं करता। आकार रहित ज्ञान भी घटादि का ग्रहण करता है। प्रत्येक व्यक्ति अहमहनिका अर्थात् व्यक्तिशः ज्ञान का अनुभव करता है।

विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। न चेदमिष्टापादानमेष्टव्यम्। दवीयान्महीधरो नेदीयान्दीर्घो बाहुरिति व्यवहारस्य निराबाधं जागरूकत्वात्।

न चाकाराधायकस्य तस्य दवीयस्त्वादिशालितया तथा व्यवहार इति कथनीयम्। दर्पणादौ तथानुपलम्भात्।

अनुवाद—ज्ञान को विषयाकार धारण करने की बात मान लेने पर विषय में दूर तथा निकट का जो व्यवहार होता है, उसे तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसे "इष्ट की प्राप्ति" मानना भी ठीक नहीं है। "पहाड़ दूर है", "लम्बी भुजा पास है" यह व्यवहार बिना बाधा के होता है।

आकार का ग्रहण होने पर भी (पर्वतादि में) दूरत्वादि धर्म होने से "पर्वत दूर है" ऐसा व्यवहार होता है–यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि दर्पणादि में यह उपलब्ध नहीं होता।

विशेष—विषयों के प्रति "यह दूर है" यह पास है" ऐसी सामान्य प्रतीति होती है। लेकिन ज्ञान को विषयाकार कहने पर यह प्रतीति नहीं बन पायेगी तथा प्रतीति का अपलाप भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्रतीति व्यवहार सिद्ध है।

यदि बौद्ध यह कहें कि वस्तुओं का जो आकार ज्ञान में आता है उसमें दूरत्व, निकटत्व आदि की प्रतीति होती है अतः "यह दूर है" या "यह पास है" ऐसा व्यवहार होता है। यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि दूर या निकट स्थित सभी वस्तुओं का आकार छोटे से दर्पण में तो आ ही जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि दूर स्थित वस्तु दर्पण में नहीं आती केवल पास स्थित वस्तु ही आती हो।

किं चार्थादुपजयमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलाकारतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि अर्थवत्तदपि जडं स्यात्। तथा च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टं स्यादिति महत्कष्टमापन्नम्।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानं जडतां नानुकरोति- इति ब्रूषे, हन्त, तर्हि तस्या ग्रहणं न स्यादित्येकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायापातः।

अनुवाद—और यदि विषय से उत्पन्न ज्ञान उस विषय के नीलादि आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यदि विषय की जड़ता को भी ग्रहण करने लगे, तो वह ज्ञान विषय से युक्त होने पर भी जड़ हो जायेगा। इस प्रकार वृद्धि की इच्छा करते हुए आपका मत भी नष्ट हो जायेगा, यह बड़ा कष्ट प्राप्त हुआ है।

अब यदि इस दोष को त्यागने की इच्दा से यह कहा जाए कि ज्ञान जड़ता को ग्रहण नहीं करता है, तो हाय कष्ट है कि फिर उस जड़ता का तो ग्रहण ही नहीं होता है, इस प्रकार एक वस्तु का अनुसन्धान करते हुए दूसरी वस्तु भुला जाती है इय स्थिति आ जायेगी।

विशेष—ज्ञान को साकार मानने पर यह भी दोष है, कि जिस प्रकार ज्ञान आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार विषय की जड़ता को भी ग्रहण करेगा। यदि ज्ञान जड़ता को ग्रहण करने लगे तो स्वयं ज्ञान को भी जड़ कहना पड़ेगा, लेकिन वस्तुत: ज्ञान तो विषय की जड़ता का भी ग्रहण करता ही है अत: ''ज्ञान जड़ता को नहीं लेता'' यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि कहें कि ''ज्ञान जड़ता को ग्रहण नहीं करता'' तो फिर तो यी कहना पड़ेगा कि ज्ञान विषय को भी ग्रहण नहीं करता है। फिर तो मूल बात ही नष्ट हो जायेगी।

ननु मा भूज्जडताया ग्रहणम्। किं नश्छिन्नम्? तदग्रहणेऽपि नीलाकारग्रहणे तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा भवेत्। नीलाकारग्रहणे चागृहीता जडता कथं तस्य स्वरूपं स्यात्? अपरथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्यमपि रूपं भवेत्। तदेतत् प्रमेयजातं प्रभाचन्द्रप्रभृतिभिरर्हन्मतानुसारिभिः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ प्रबन्धे प्रपञ्चितमिति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोपन्यस्तम्।

अनुवाद—यदि (बौद्ध) यह कहें जड़ता का ग्रहण न होवे। उससे हमारी क्या हानि है? जड़ता का ग्रहण न होने पर भी नीलाकार (ग्रहण करने पर उन दोनों (जड़ता तथा नील) का या तो भेद होगा या व्यभिचार होगा। नीलाकार का ग्रहण होने पर भी अगृहीत जडता उस नीलाकार का स्वरूप कैसा होगा? अन्यथा गृहीत स्तम्भ का रूप अगृहीत त्रैलोक्य भी हो जायेगा। इन सभी प्रमेयों को प्रभाचन्द्र आदि जैनमतानुसारी विद्वानों ने प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में वर्णित किया है। अत: ग्रन्थ बड़ा होने के डर से उनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है।

विशेष—यदि यह कहें कि नीलादि आकार का ग्रहण होता है तथा उसकी जड़ता का ग्रहण नहीं होता, तो फिर नीलादि आकार तथा जड़ता में अत्यन्त भेद मानना पड़ेगा या फिर यह कहा जायेगा कि जिस प्रकार अग्नि के रहने पर भी कभी-कभी धूम नहीं रहता उसी तरह नीलाकार के रहने पर भी जड़ता नहीं रहती। इसे ही व्यभिचार कहा जाता है।

साथ ही एक समस्या और आती है कि जब जड़ता का ग्रहण ही नहीं होता, तो उस जड़ता को नीलाकार का रूप कहना भी ठीक नहीं है। स्तम्भ का ग्रहण होने पर सम्पूर्ण त्रैलोक्य को स्तम्भ के स्वरूप कहा जाने लगेगा जबकि त्रैलोक्य का तो ग्रहण होता ही नहीं है।

प्रभाचन्द्र नवीं शताब्दी ईसा पूर्वार्ध में विद्यमान थे। विद्यानन्दी द्वारा रचित आप्तपरीक्षा ग्रन्थ पर माणिक्य नन्दी ने परीक्षामुख नामक टीका लिखी है। परीक्षामुख की टीका ही 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' है जिसे प्रभाचन्द्र ने लिखा है।

७. अर्हत्-मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप

तस्मात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैः सौगती गतिर्नानुगन्तव्या, अपि तु आर्हती एवार्हणीया। अर्हत्स्वरूपं च हेमचन्द्रसूरिभिराप्तनिश्चयालङ्कारे निरटङ्कि-

५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः ।। इति।

अनुवाद—इसलिये पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुषों ने बौद्धमत का अनुसरण नहीं करना चाहिये, अपितु जैन मत का ही अनुसरण करना चाहिये। अर्हत् का स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने "आप्तनिश्चयालङ्कार" ग्रन्थ में लिखा है—सर्वज्ञ, रागादि दोषों को जीतने वाला, त्रैलोक्य में पूजित, यथार्थ बात को कहने वाला परमेश्वर अर्हत् देव है।

विशेष—जैन मत में अर्हत् ही परमेश्वर है।

८. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शंका

ननु न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः—

६. सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वायोऽनुमापयेत् ।।

७. न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः ।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते ।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि सर्वज्ञ पद से ज्ञात होने वाला कोई पुरुष विशेष प्रमाण पदवी पर नहीं बैठ जाता है, क्योंकि सर्वज्ञता के ग्राहक पांचों प्रमाण उसमें नहीं मिलते। जैसा कि तौतातिकों (मीमांसकों) ने कहा है—

इस समय हम लोगों को किसी सर्वज्ञ का दर्शन नहीं होता। न ही उस सर्वज्ञ का कोई एकदेश या लिङ्ग (हेतु) ही दिखलाई पड़ता है जो उसका अनुमान करा सके।

नित्य तथा सर्वज्ञ का बोध कराने वाली कोई आगम विधि (शब्द प्रमाण) भी नहीं है। अर्थवादवाक्यों का तात्पर्य भी उस सर्वज्ञ में कल्पित नहीं होता है।

विशेष—भाट्ट मीमांसकों को ही 'तौतातिक' कहा जाता है। मीमांसक सर्वज्ञ अर्हत् को स्वीकार नहीं करते। भाट्ट मीमांसक छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि।

इसमें से प्रथम पांच प्रमाण किसी वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, तथा छठां अनुपलब्धि प्रमाण अभाव को सिद्ध करता है। इसलिये यहाँ पांच ही प्रमाणों को लिया गया है। इन पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती।

सर्वज्ञ प्रत्यक्ष तो दिखलाई पड़ता ही नहीं है। सर्वज्ञ का कोई एकदेश या हेतु भी नहीं है। जिससे धूम हेतुक अग्निसाध्यक अनुमान के समान ही सर्वज्ञ का अनुमान कर लें। आगमविधि अर्थात् शब्द प्रमाण भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं करा पाता है।

अर्थवाद वाक्य भी सर्वज्ञ को नहीं बताते हैं। मीमांसकों ने वेद के पांच भाग किये हैं—

१. विधि—अज्ञात विषय का ज्ञान कराने वाला भाग विधि है। जैसे—स्वर्गकामो यजेत।
२. मन्त्र—अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण मन्त्रों से होता है।
३. नामधेय—यज्ञों के नाम। जैसे—चित्रा याग आदि।

४. निषेध—अनिष्ट कर्मों से हटाने वाला वचन। जैसे—न कलञ्जं भक्षयेत्।

५. अर्थवाद—विधेय की प्रशंसा या निषेध्य निन्दा करने वाले वचन।

इस परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा शब्द से सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

८. न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ।।

९. अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते? ।।

१०. अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ।।

अनुवाद—अन्यार्थप्रधान उन अर्थवादवाक्यों से अर्हत् का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अन्य किसी के द्वारा पहले न कहे गये वचन का अनुवाद भी सम्भव नहीं है।

अनादि आगम का विषय आदि से युक्त सर्वज्ञ नहीं हो सकता। कृत्रिम तथा असत्य आगम से सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है?

यदि सर्वज्ञ के वचन से ही अज्ञानी लोगों को सर्वज्ञ की प्रतीति होगी ऐसा कहें तो उन दोनों का अन्योन्याश्रय होने से उन दोनों की सिद्धि कैसे होगी?

विशेष—अर्थवाद वाक्य अन्यार्थप्रधान है। अर्थवाद वाक्यों का स्वयं का कोई मुख्यार्थ नहीं माना जाता बल्कि लक्षणा के द्वारा उनका अर्थ प्रशंसा या निन्दा होता है।

पूर्व में कही बात को पुनः कहना ही अनुवाद है। सर्वज्ञ के विषय में कोई पूर्व कथन भी नहीं है जिसका अनुवाद किया जा सके।

आगम अनादि है उनका विषय कोई सादि सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यदि आगम को कृत्रिम कहें तो उन्हें असत्य मानना पड़ेगा। फिर उन असत्य आगम से भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे माना जाए?

सर्वज्ञ ऐसा कहता है कि "मैं सर्वज्ञ हूँ" इस कारण उसे सर्वज्ञ माना जाए अन्योन्याश्रय दोष है। अतः कथमपि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। सर्वज्ञ के वचनों की सत्यता के कारण उसके अस्तित्व की सिद्धि होती है तथा उसके अस्तित्व के कारण उसके वचनों की सत्यता भी सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है।

११. सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत्सिद्धमूलान्तराद‍ृते ।।

१२. असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते?

१३. सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ।।

१४. उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाभवत् ।।

१५. एवमर्थापत्तिरपि प्रमाणं नात्र युज्यते।
उपदेशस्य सत्यत्वं यतो नाध्यक्षमीक्ष्यते।। इत्यादि।।

अनुवाद—सर्वज्ञ के द्वारा कहे जाने के कारण उसके वचनों की सत्यता सिद्ध होती है तथा वचनों की सत्यता से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः मूल को सिद्ध बिना किये इन दोनों की सिद्धि कैसे हो सकती है।

मूल से रहित तथा असर्वज्ञ व्यक्ति के द्वारा बतलाये गये वचन से यदि सर्वज्ञ का ज्ञान होता है तो अपने वचनों से ही उसका ज्ञान क्यों नहीं होता?

यदि सर्वज्ञ के समान किसी व्यक्ति को देखते हैं, तो हम लोग उपमान प्रमाण से सर्वज्ञ को जान सकते हैं।

बुद्ध का उपदेश धर्म तथा अधर्म का ज्ञापक है। अतः यदि बुद्ध को सर्वज्ञ न मानें, तो यह बात नहीं लग पाती—इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्ध के उपदेशों की सत्यता प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ती।

विशेष—इस परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि शेष दो प्रमाण—उपमान तथा अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

उपमान प्रमाण का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है–नीलगाय के स्वरूप को न जानने वाला कोई व्यक्ति "नीलगाय गाय के समान होती है" यह जानकर जब जंगल जाता है, तो वहाँ गाय के सदृश प्राणी को देखकर समझ जाता है कि यही नीलगाय है। यही है उपमान प्रमाण। यह भी तभी सम्भव है जब सर्वज्ञ सदृश कोई व्यक्ति दिखलाई पड़े।

"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" (देवदत्त मोटा होने पर भी दिन में भोजन नहीं करता) इस बात की अनुपपत्ति के कारण "देवदत्त रात्रि में भोजन करता है" यह कल्पना की जाती है। यही प्रमाण है।

बुद्ध का उपदेश सत्य मानने पर बुद्ध के सर्वज्ञ होने की कल्पना करना अर्थापत्ति है। किन्तु बुद्ध का उपदेश सत्य है—जब यह बात ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर अर्थापत्ति से सर्वज्ञत्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

९. अर्हत् के सम्बन्ध में मीमांसको की शङ्का का समाधान

अत्र प्रतिविधीयते। यदभ्यधायि 'तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्' इति तदयुक्तम्। तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध-प्रत्ययत्वात्। यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं, तत् तत्साक्षात्कारि; यथा-अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

अनुवाद—इस पर कहते हैं। जो कहा गया कि "अर्हत् की सिद्धि के ग्राहक पांचों प्रमाण यहाँ नहीं मिलते" यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ अर्हत् की सिद्धि के ग्राहक अनुमानादि प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे—कोई आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है, उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर सभी प्रतिबन्धक प्रत्ययों के क्षीण

हो जाने के कारण जो आत्मा जिन सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखने पर प्रतिबन्धकों से विमुक्त है, वह आत्मा उन सभी पदार्थों को साक्षात्कार करता है। जैसे— अन्धकारादि का प्रतिबन्ध न होने पर नेत्र विज्ञान रूप का साक्षात्कार करता हैं।

तदग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा। तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारीति। न तावदशेषार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्।

अनुवाद—आत्मा भी उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर सभी प्रतिबन्धों से विमुक्त है। अत: आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है। सभी पदार्थों को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव भी असिद्ध नहीं है।

विशेष—जैनों ने आत्मा की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के पांच अवयवों वाले अनुमान वाक्य को दर्शाया है—

१. प्रतिज्ञा—कोई आत्मा सब पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

२. हेतु—उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर प्रतिबन्धकों के क्षीण हो जाने के कारण। हेतु में दो दल है विशेषण दल तथा विशेष्य दल। "प्रतिबन्धकों का क्षीण हो जाना" यह विशेष्य दल है।" "उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखना" यह विशेषण दल है।

३. उदाहरण—जो-जो आत्मां जिन सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखने पर प्रतिबन्धकों से मुक्त है, वह आत्मा उन सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है। जैसे—अन्धकार आदि प्रतिबन्धक न होने पर नेत्र रूप का साक्षात्कार करता है।

४. उपनय—उसी तरह आत्मा भी समस्त पदार्थों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखने पर भी प्रतिबन्धकों से रहित है।

५. निगमन—अत: आत्मा समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार तात्पर्य यह है कि चूँकि आत्मा का यह स्वभाव है कि प्रतिबन्धक न होने पर वह सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। अत: आत्मा की सर्वज्ञता सिद्ध है।

हेतु के विशेषण भाग के न होने से विशेषणाभाव प्रयुक्त स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता है। यह हेत्वाभास भी यहाँ नहीं है, क्योंकि हेतु का विशेषण "समस्त पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव" आत्मा में असिद्ध नहीं है।

चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति व्याप्तिज्ञानोत्पत्तेश्च। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयति' (मी० सू० १।१।२ शाबरभाष्य) इत्येवंजातीयकैरध्वरमीमांसागुरुभिर्विप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं सकलार्थविषयज्ञानं प्रतिपाद्यमानैः सकलार्थग्रहणस्वभावकत्वमात्मनोऽभ्युपगतम्।

अनुवाद—अन्यथा चोदना (विधि वाक्यों) से समस्त विषयों के ज्ञान की उत्पत्ति को नहीं माना जा सकेगा तथा "सब कुछ अनेकान्तात्मक है सत् होने से" इस व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति होने के कारण (आत्मा का स्वभाव "अशेषविषयों को ग्रहण करना" माना गया है) "भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूर इन प्रकार के विषयों का ज्ञान

विधि (चोदना) कराती है।'' (मी०सू० १.१.२ शाबर भाष्य) इस प्रकार से अध्वर मीमांसा के आचार्यों ने विधि निषेध के विचार पर आधारित समस्त विषयों को ज्ञान प्रतिपादित करते हुए समस्त विषयों को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव बतलाया है।

विशेष—मीमांसा मतानुसार विधि ही भूत, भविष्य, वर्तमान सभी विषयों का ज्ञान कराती है। ''यज्ञ से स्वर्गादि फल प्राप्त होते हैं'' यह ज्ञान भी विधि ही कराती है। यदि आत्मा को सर्वज्ञ न माना जाए तो'' विधि सब विषयों का ज्ञान कराती है'' यह बात भी नहीं लग पायेगी। साथ ही जैन मत में समस्त वस्तुओं को अनैकान्तिक (सापेक्ष) माना गया है। इसे भी तभी माना जा सकता है, जब आत्मा को सर्वज्ञ माना जाए।

न चाखिलार्थप्रतिबन्धकावरणप्रक्षयानुपपत्तिः। सम्यग्दर्शनादित्रय-लक्षणस्यावरणप्रक्षयहेतुभूतस्य सामग्रीविशेषस्य प्रतीतत्वात्। अनया मुद्रयापि क्षुद्रोपद्रवा विद्राव्याः।

अनुवाद—''समस्त विषयों के प्रतिबन्धकों को नाश हो जाना'' यह भी अनुपन्न नहीं है। क्योंकि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र-ये तीनों लक्षण प्रतिबन्धकों के नाश की हेतुभूत सामग्री विशेष के रूप में प्रतीत होते हैं। इस प्रकार से छोटी बाधाओं को दूर कर देना चाहिये।

विशेष—पूर्वोक्त हेतु में जो विशेष्य दल था ''समस्त विषयो के प्रतिबन्धकों का नाश'' वह भी असिद्ध नहीं है। अर्थात् ''विशेष्याभावप्रयुक्त स्वरूपासिद्धि'' भी नहीं है।

सम्यक् दर्शनादि त्रिरत्नों से समस्त प्रतिबन्धकों का नाश हो जाता है अतः अर्हत् को सर्वज्ञ मानने में कोई बाधा नहीं है।

१०. नैयायिकों की शंका और उसका समाधान

नन्वावरणप्रक्षयवशादशेषविषयं विज्ञानं विशुद्धं मुख्यप्रत्यक्षं प्रभवतीत्युक्तं, तदयुक्तम्। तस्य सर्वज्ञस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्-तन्न। अनादिमुक्तत्वस्यैवासिद्धेः। न सर्वज्ञोऽनादिमुक्तः, मुक्तत्वादितरमुक्तवत्। बद्धापेक्षया हि मुक्तव्यपदेशः। तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्।

अनुवाद—यदि यह कहें कि आवरणों (प्रतिबन्धकों) के नष्ट हो जाने से सभी विषयों का विशुद्ध विज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं हैं। फिर यदि कहें कि सर्वज्ञ के अनादिमुक्त होने से उसमें आवरण की ही सम्भावना नहीं है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ का अनादि मुक्त होना ही सिद्ध नहीं है। सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है, मुक्त होने से, अन्य मुक्त लोगों की तरह। बद्ध की अपेक्षा से 'मुक्त' ऐसा व्यपदेश होता है। बद्ध के न रहने पर मुक्त का भी अभाव होगा, आकाश के समान।

विशेष—जैन मत में सर्वज्ञ अर्हत् को अनादिमुक्त नहीं माना गया है। ''सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है'' यह सिद्ध करने के लिए अनुमानप्रयोग किया गया है—

सर्वज्ञ न अनादिमुक्तः मुक्तत्वात् इतरमुक्तवत्। सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है, मुक्त होने से, अन्य मुक्तों के समान।

जिस प्रकार अन्य मुक्त पुरुष अनादि मुक्त नहीं हैं उसी तरह सर्वज्ञ अर्हत् भी अनादिमुक्त नहीं है।

बद्ध और मुक्त यह सापेक्ष व्यवहार है। यदि कोई बद्ध नहीं है तो 'मुक्त' यह कहना भी व्यर्थ हो जाएगा। जैसे आकाश न तो बद्ध है न मुक्त। अत: सर्वज्ञ अर्हत् भी मुक्त तो है लेकिन अनादिमुक्त नहीं है।

नन्वनादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृत्वेन तत्सिद्धिः। तथा हि-क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्। तदप्यसमीचीनम्। कार्यत्वस्यैवासिद्धेः। न च सावयवत्वेन तत्साधनमित्यभिधातव्यम्। यस्मादिदं विकल्पजालमवतरति।

अनुवाद—यदि यह कहे कि अनादि पृथ्वी आदि कार्यों की परम्परा के कर्ता के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती हैं। जैसे कि–पृथ्वी आदि कार्य कर्तृयुक्त हैं कार्य होने से, घट के समान। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदि में कार्यत्व ही सिद्ध नहीं है। पृथिवी आदि कार्य सावयव होने के कारण उनमें कार्यत्व की सिद्धि हो जाएगी—यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यह विकल्पजाल आ जायेगा।

विशेष—न्यायमत में पृथिव्यादि कार्यों के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि भी की गयी है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के प्रारम्भ में ही पूर्वोक्त अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की गयी है। चूँकि पृथ्वी आदि कार्य (जन्य) हैं अत: उनका कोई कर्ता होना चाहिये, वह कर्ता ही ईश्वर है।

जैनमत में पृथ्वी आदि कार्य (जन्य=उत्पन्न होने वाले) ही नहीं हैं। सावयव होने से भी पृथ्वी आदि को कार्य नहीं कह सकते, क्योंकि आगे कहे गये ५ विकल्पों के कारण पृथ्वी आदि को सावयव नहीं कहा जा सकता है।

११. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन

सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम्, अवयवसमवायित्वम्, अवयवजन्यत्वम्, समवेतद्रव्यत्वम्, सावयवबुद्धिविषयत्वं वा?

न प्रथमः। आकाशादौ अनेकान्त्यात्। न द्वितीयः। सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः। साध्याविशिष्टत्वात्।

अनुवाद—'सावयव' का अर्थ अवयवों के साथ संयोग है या अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध है या अवयवों से उत्पन्न होना है या समवेत द्रव्यों का होना है या अवयवों से युक्त बुद्धि का विषय होना है?

पहला विकल्प ठीक नहीं है, आकाश आदि में व्यभिचार हो जाने से। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य में व्यभिचार हो जाता है। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्य से अभिन्न हो जायेगा।

विशेष—यदि "कार्यत्व" को सिद्ध करने के लिए "सावयवत्व" हेतु दिया जाए, तो अनुमान होगा—

पृथिव्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्।

अब प्रश्न उठा कि सावयवत्वम् कीदृशम्?

इस पर पांच विकल्पों को उपस्थित करके जैनों ने यह बतलाया कि 'सावयवत्व' की कोई व्याख्या संभव नहीं है।

प्रथम विकल्प है कि अवयवों के साथ संयोग होना ही सावयवत्व हैं फिर तो आकाश को भी सावयव कहना पड़ेगा। आकाश का अवयवों के साथ संयोग सम्बन्ध है। फिर सावयव होने से आकाश को कार्य (जन्य) कहना पड़ जायेगा लेकिन न्यायमत में आकाश कार्य नहीं है। कार्य के लक्षण की आकाश में अतिव्याप्ति ही व्यभिचार है। सावयव की प्रथम व्याख्या मानने पर आकाश में व्यभिचार दोष आता है। "साध्याभाववद्वृत्तित्वं व्यभिचारत्वम्" यह व्यभिचार का लक्षण है अर्थात् हेतु का साध्याभाव में रहना।

दूसरा विकल्प है कि सावयव का तात्पर्य है—अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध रखना। सामान्य (जाति) का द्रव्यादि के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है। अतः सामान्य भी सावयव हो गया। फिर "कार्यं सावयवत्वात्" अनुमान से सामान्य को कार्य कहना पड़ेगा। जबकि सामान्य कार्य (जन्य) नहीं है। वह नित्य है। इस प्रकार दूसरा विकल्प मानने पर सामान्य में व्यभिचार आता है।

यदि तीसरा विकल्प माना जाय अर्थात् सावयव का तात्पर्य अवयवों से उत्पन्न माना जाए तो फिर कार्यत्व और सावयवत्व में अन्तर ही क्या रह जायेगा? कार्य का अर्थ भी यही है = उत्पन्न पदार्थ। साध्य और हेतु दोनों अलग-अलग होने चाहिये। दोनों के एक हो जाने पर अनुमान प्रयोग नहीं हो सकता।

न चतुर्थः। विकल्पयुगलार्गलग्रहगलत्वात्। समवायसम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वं समवेतद्रव्यत्वमन्यत्र समवेतद्रव्यत्वं वा विवक्षितं हेतूक्रियते?

आद्ये गगनादौ व्यभिचारः। तस्यापि गुणादिसमवायवत्वद्रव्यत्वयोः सम्भवात्। द्वितीये साध्याविशिष्टता। अन्यशब्दार्थेषु समवायकारणभूतेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। अभ्युपगम्यैतदभाणि। वस्तुतस्तु समवाय एव न समस्ति। प्रमाणाभावात्।

अनुवाद—चौथा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो विकल्प रूपी अर्गला से इसका गला पकड़ लिया जाता है। केवल समवाय सम्बन्ध से युक्त द्रव्यत्व समवेत द्रव्यत्व है या किसी दूसरे पदार्थ में समवेतद्रव्यत्व को विवक्षित करके उसे हेतु बनाया गया है?

प्रथम पक्ष मानने पर आकाश आदि में व्यभिचार आता है, क्योंकि आकाश में गुण आदि का समवायत्व तथा द्रव्यत्व दोनों सम्भव है। दूसरा पक्ष मानने पर 'सावयवत्व' साध्य से अभिन्न हो जायेगा। समवाय के कारणभूत अन्य पदार्थ अवयवों में समवाय को सिद्ध करना होगा। यह सब (समवाय को सम्बन्ध) मानकर ही कहा गया है। वस्तुतः समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, प्रमाण के न होने से।

विशेष—चतुर्थ विकल्प के अनुसार सावयव का तात्पर्य है समवेत द्रव्यों का होना है। इस "समवेत द्रव्यत्व" का क्या तात्पर्य है? इसके भी दो विकल्प हैं। पहले विकल्प के अनुसार "समवेतद्रव्यत्व" का अर्थ है—समवाय सम्बन्ध से युक्त द्रव्यत्व।

ऐसा मानने पर फिर से आकाश में व्यभिचार आयेगा। आकाश में समवाय सम्बन्ध से शब्द गुण रहता है तथा आकाश स्वयं द्रव्य भी है। अत: आकाश को सावयव मानना होगा और ''कार्यं सावयवत्वात्'' अनुमान से आकाश को कार्य (जन्य) होने की आपत्ति आयेगी। लेकिन आकाश तो जन्य नहीं है। यही व्यभिचार दोष है।

'समवेत द्रव्यत्व' का दूसरा अर्थ है—अन्य किसी पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले द्रव्य। जैसे पट तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। पट अपने समवायिकारण तन्तु से उत्पन्न हुआ है। किन्तु ऐसा मानने पर सावयव (हेतु) तथा कार्य (साध्य) में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। साथ ही पट के समवायिकरण तन्तु में भी पहले तो समवाय को सिद्ध करना होगा। जैन मत में तो समवाय सम्बन्ध होता ही नहीं। इतना सब विचार समवाय को सम्बन्ध मानकर किया गया है। वस्तुत: प्रमाण न होने से समवाय को सम्बन्ध ही नहीं मानना चाहिये।

नापि पञ्चमः। आत्मादिनानैकान्त्यात्। तस्य सावयवबुद्धिविषयत्वेऽपि कार्यत्वाभावात्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवार्थसम्बन्धेन सावयवबुद्धि-विषयत्वमौपचारिकमित्येष्टव्यम्। निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत्।

अनुमान—पांचवा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा आदि के कारण व्यभिचार आ जाता है। सावयव बुद्धि का विषय होने पर भी आत्मा में कार्यत्व का अभाव है। यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा के निरवयव होने पर भी सावयव विषयों के सम्बन्ध से ''सावयव बुद्धि का विषयत्व'' यह औपचारिक प्रयोग है। निरवयव पदार्थ में व्यापकता का विरोध है, परमाणु के समान।

विशेष—आत्मा सावयव बुद्धि (ज्ञान) का विषय तो है, पर वह कार्य (जन्य) नहीं है। अत: सावयव की उक्त परिभाषा मानने पर आत्मा में व्यभिचार आता है।

''सावयव बुद्धि विषयत्व'' को 'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि प्रयोगों की तरह औपचारिक (गौण) भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आत्मा सावयव ही है निरवयव नहीं। जो निरवयव होता है वह व्यापक नहीं होता। चूंकि आत्मा व्यापक है अत: उसे सावयव मानना पड़ेगा।

इस प्रकार सावयव हेतु देकर कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो पाती है। अत: कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व की सिद्धि भी नही हो सकती। परिशेषत: नैयायिकों ने ''क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्'' अनुमान से जो ईश्वरसिद्धि की थी वह सम्भव नहीं है।

१२. ईश्वर को कर्त्ता मानने में आपत्ति

किं च, किमेकः कर्त्ता साध्यते, किं वाऽनेके? प्रथमे प्रासादादौ व्यभि-चारः। स्थपत्यादीनां बहूनां पुरुषाणां तत्र कर्तृत्वोपलम्भात्। द्वितीये बहूनां विश्व-निर्मातृत्वे तेषु मिथो वैमत्यसम्भावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्य-रूपतया सर्वमसमञ्जसमापद्येत। सर्वेषां सामर्थ्यसाम्येनैकेनैव सकलजगदुत्पत्ति-सिद्धौ इतरवैयर्थ्यं च।

अनुवाद—फिर क्या एक कर्ता को सिद्ध करते हैं या अनेक? प्रथम पक्ष मानने

पर महल आदि में व्यभिचार होता है, क्योंकि महल के निर्माण में बढ़ई आदि बहुत से पुरुषों का कर्तृत्व दिखलाई पड़ता है। दूसरा पक्ष मानने पर बहुत से लोगों को विश्व का निर्माता मानने पर उनमें परस्पर वैमत्य की सम्भावना अनिवार्य होने के कारण एक-एक वस्तु के अनेक रूप होने से सब कुछ असमञ्जस हो जायेगा। साथ ही सभी का एक जैसा सामर्थ्य मानने पर एक ही व्यक्ति से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है और अन्य कर्ता बेकार हो जाते हैं।

विशेष—महल को बहुत से लोग मिलकर बनाते हैं अत: एक कर्ता मानना उचित नहीं। यदि अनेक कर्ता माने जायें तो एक ही वस्तु के अनेक रूप मानने पड़ेंगे, क्योंकि हर व्यक्ति में वैमत्य है।

तदुक्तं वीतरागस्तुतौ–

१६. **कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः**
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।। (वी० स्तु० ६) इति।।

अन्यत्रापि–

१७. **कर्त्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा**
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति ।। इति।।

अनुवाद—जैसा कि "वीतराग स्तुति" में कहा गया है—इस जगत् का जो कोई कर्ता है, वह एक ही है, वह सर्वव्यापक है, वह स्वतन्त्र तथा वह नित्य है। यह उन लोगों की अनुचित इच्छा (कुहेवाक) रुपी विडम्बना है, जिनके उपदेशक तुम नहीं हो। (वी०स्तु० ६)

और भी—इस संसार में कोई भी अपनी इच्छा से कर्ता नहीं है, नहीं तो चटाई बनाने में भी उसकी प्रसक्ति दिखलाई पड़ती। अन्यथा आप लोगों को तथा बढ़ई आदि को भी क्या कार्य रह जायेगा? यह पुरुष एक साथ तीनों लोकों को बनाता है।

विशेष—जैनमतानुसार अर्हत् ही जगत् का कर्ता है, वह एक, नित्य, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है। कुहेवाक शब्द सम्भवत: फारसी या अरबी के प्रभाव से संस्कृत में आया है। विल्हण ने हेवाक शब्द का प्रयोग अपने काव्य में किया है—

आसीन्नासीत्तदनु निविडाश्लेषहेवाकलीला-
वेल्लद्बाहुक्वणितवलया सन्ततं राजलक्ष्मीः ।।

—विक्रमाङ्कदेवचरित (१८.१०१)

कु = अनुचित, गलत, कुत्सित
हेवाक = इच्छा, उत्कण्ठा

इस संसार में यदि स्वेच्छया ही लोग वस्तुओं का निर्माण करते तो हर व्यक्ति

चटाई ही बनाने लगे। बढ़ई आदि का कार्य भी कोई भी व्यक्ति कर ले, उनकी क्या आवश्यकता है।

१३. सर्वज्ञ की सिद्धि

तस्मात्प्रागुक्तकारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सार्वज्ञ्यं युक्तम्। न चास्योपदेष्ट्रन्तराभावात् सम्यग्दर्शनादित्रितयानुपपत्तिरिति भणनीयम्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वादमुष्य अशेषार्थज्ञानस्य। न चान्योन्याश्रयादिदोषः। आगमसर्वज्ञपरम्पराया बीजांकुरवदनादित्वाङ्गीकारादित्यलम्।

अनुवाद—इसलिये पूर्वोक्त तीनों कारणों के बल से आवरण का नाश हो जाने पर सर्वज्ञता ठीक ही है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि इस वाक्य का कोई दूसरा उपदेशक न होने से सम्यक्दर्शनादि तीनों की अनुपपत्ति है। क्योंकि समस्त ज्ञान पहले के सर्वज्ञों द्वारा बतलाये गये आगम से उत्पन्न हुआ है। इसमें अन्यान्याश्रय आदि दोष भी नहीं है। आगम तथा सर्वज्ञ की परम्परा बीज तथा अङ्कुर के समान अनादि है।

विशेष—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र ये तीनों त्रिरत्न कहे जाते हैं। इन तीनों के द्वारा जब आवरण का नाश हो जाता है, तब सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। फिर यह प्रश्न उठा कि जब त्रिरत्नों का उपदेश मिलने पर सर्वज्ञता आती है तो फिर उन त्रिरत्नों का उपदेश कौन सा सर्वज्ञ देता है। इसका समाधान यह है कि पूर्व के सर्वज्ञ द्वारा त्रिरत्न का उपदेश दिया गया है। और फिर उन त्रिरत्नों के उपदेश से सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

१४. त्रिरत्नों का वर्णन–सम्यक् दर्शन

रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति (त०सू० १।१)

विवृतं च योगदेवेन–'येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' तथा च तत्त्वार्थसूत्रं-तत्त्वार्थ (र्थे) श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।

अनुवाद—'त्रिरत्न' नाम से समझे जाने वाले सम्यक् दर्शन आदि तीनों का वर्णन अर्हत् प्रवचन के संग्रह से युक्त परमागमसारग्रन्थ में किया गया है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र मोक्ष का मार्ग है। (त०सू० १.१)

योगदेव ने व्याख्या भी की है—जिस रूप में जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उसी रूप में अर्हत् द्वारा प्रतिपादित तत्वार्थ में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है, इसी का दूसरा पर्याय है—विपरीत अभिनिवेश से रहित होना। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र है—तत्त्वार्थ में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है।

विशेष—"परमागमसार" ग्रन्थ में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है। तत्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता उमास्वाति हैं। इनका काल प्रथम शताब्दी ईसवी है। इसी ग्रन्थ में "परमागमसार" का उद्धरण दिया गया है। त्रिरत्नों से दण्डचक्रचीवरादि न्याय

से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। जिस प्रकार दण्ड आदि मिलकर घट का निर्माण करते हैं, अलग-अलग नहीं; उसी तरह त्रिरत्न मिलकर सर्वज्ञता उत्पन्न करते हैं।

अन्यदपि—

१८. रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा।। इति।।

परोपदेशनिरपेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः। व्याख्यानादिरूपपरोपदेशजनितं ज्ञानमधिगमः।

अनुवाद—जिन देव के कहे गये तत्त्वों में रुचि रखना ही सम्यक् श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) है। यह या तो स्वभाव से ही होता है या फिर गुरु के उपदेश से होता है।

परोपदेश से निरपेक्ष आत्मस्वरूप ही स्वभाव है। व्याख्यानादि परोपदेश से उत्पन्न ज्ञान अधिगम है।

१५. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप

येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशय-रहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् यथोक्तम्—

१९. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः।। इति।।

अनुवाद—जिस स्वभाव से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उस स्वभाव से मोह, संशय से रहित उपदेश ही सम्यक् ज्ञान है। जैसा कि कहा गया है—

यथास्थित पदार्थों का संक्षेप या विस्तार से जो ज्ञान होता है, उसे विद्वानों ने सम्यक् ज्ञान कहा है।

तज्ज्ञानं पञ्चविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेन। तदुक्तम्—मतिश्रुतावधि-मनः पर्याय-केवलानि ज्ञानमिति। अस्यार्थः—ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य व्यापृतः सन्यथार्थं मनुते सा मतिः। ज्ञानावरण-क्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टं ज्ञानं श्रुतम्। सम्यग्दर्शनादिगुण-जनितक्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः। ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरण-क्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदं ज्ञानं मनःपर्यायः। तपः क्रियाविशेषान्यदर्थं तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम्।

अनुवाद—वह ज्ञान पाँच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय तथा केवल के भेद से। जैसा कि कहा गया है—मति, श्रुत, अगधि, मन:पर्याय तथा केवल ही सम्यक् ज्ञान है। इसका अर्थ है—ज्ञान के आवरण का नाश या उपशम हो जाने पर इन्द्रियों तथा मन को आगे कर विषय को व्यापृत करके जो विषय को यथार्थ माना जाता है, वह मति है। ज्ञान के आवरण का नाश या उपशम हो जाने पर मति से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान ही श्रुत है। सम्यक् दर्शनादि के कारण ज्ञानावरण का क्षय या उपशम होने के कारण विषयों को व्याप्त करने वाला ज्ञान अवधि है। ईष्यादि विघ्नरुप ज्ञानावरण के क्षय या

उपशम होने पर दूसरे के मन की बात को स्पष्टतः व्याप्त करने वाले ज्ञान को मनः पर्याय कहते हैं। तपस्वी लोग जिस ज्ञान के लिए तपस्या करते हैं, अन्य ज्ञान से अमिश्रित उस ज्ञान को केवल ज्ञान कहा जाता है।

विशेष—सम्यक् दर्शन की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान से होती है। जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। यह पाँच प्रकार का है—

१. मतिज्ञान—ज्ञान के आवरण अर्थात् प्रतिबन्धकों का नाश होने पर इन्द्रिय तथा मन की सहायता से किसी विषय का अस्पष्ट ज्ञान ही मतिज्ञान है। इस ज्ञान को ही न्याय मत में निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में केवल यही बोध होता है—किञ्चिदिदम्। किसी वस्तु को देखते साथ ही उसका अस्पष्ट ज्ञान ही मतिज्ञान है। इस ज्ञान में दृष्टि किसी विषय पर स्थिर तो रहती है लेकिन यह नहीं पता चल पाता कि वह विषय क्या है?

२. श्रुतज्ञान—मति ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह विषयों का स्पष्ट ज्ञान है। न्यायमत में इसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है।

३. अवधि—श्रुत ज्ञान में विषय का स्पष्ट ज्ञान अर्थात् उस विषय के रूप रंग का ज्ञान होता है लेकिन उस विषय का सम्पूर्ण ज्ञान ही अवधि ज्ञान है। उस वस्तु के द्रव्य, देश, काल आदि से युक्त ज्ञान ही अवधि ज्ञान है। "द्रव्यदेशकालैः परिच्छिद्यते विषयोऽनेन" अर्थात् द्रव्य देश काल से विषय का परिच्छेद अवधिज्ञान से होता है।

४. मनःपर्याय—दूसरे के मन की बात को जानना ही मनःपर्याय है। साधक लोग मनः पर्याय ज्ञान से दूसरे के मन की बात को जान लेते हैं। योगदर्शन में दूसरे के चित्त को जानने के विषय में कहा गया है—प्रत्यस्य परचित्तज्ञानम्। ३.१९ योगसूत्र

अर्थात् चित्त में संयम करने से दूसरे के चित्त का भी ज्ञान हो जाता है।

५. केवल ज्ञान—यह ज्ञान ही परम ज्ञान है। इसी ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। इस ज्ञान में अन्य किसी ज्ञान का सम्पर्क नहीं रहता है। अतः इसे केवल ज्ञान कहते हैं।

तत्राद्यं परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत्। तदुक्तम्—

२०. विज्ञानं त्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयं विनिश्चयात् ।। इति।।

अन्तर्गणिकभेदस्तु सविस्तरः तत्रैवागमेऽवगन्तव्यः ।

अनुवाद—इन ५ भेदों में पहला ज्ञान परोक्ष है तथा अन्य चारों प्रत्यक्ष हैं। जैसा कि कहा गया है—

बाघ (प्रतिबन्धक) से रहित तथा दूसरे को प्रकाशित करने वाला विज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञेय विषय का निश्चय करने के कारण यह दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। इनके अवान्तर भेदों का वर्णन वहीं आगम (परमागमसार) में विस्तारपूर्वक देख लेना चाहिये।

विशेष—जैन मतानुसार मति ज्ञान परोक्ष ज्ञान है तथा अन्य सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

१६. सम्यक् चरित्र और पञ्च महाव्रत

संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारण-क्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्। तदेतत्सप्रपञ्चमुक्तमर्हता—

२१. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ।।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।।

अनुवाद—सरण हेतु कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष के पाप के कारण क्रिया की निवृत्ति हो जाना सम्यक् चरित्र है। अर्हत् ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—

निन्दित कर्मों का सर्वथा त्याग ही सम्यक् चरित्र है। वह अहिंसा आदि व्रत के भेद से पांच प्रकार का है। अहिंसा आदि पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

२२. न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ।।

२३. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ।।

२४. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम् ।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हिते ।।

२५. दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम् ।।

२६. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः ।।

अनुवाद—असावधानी से भी जो स्थावर तथा जंगम जीवों के जीवन का नाश नहीं किया जाता, उसे अहिंसाव्रत कहा जाता है।

प्रिय, अनुकूल तथा सत्य वचन ही सूनृतव्रत कहा जाता है। वह सत्य वचन भी सत्य नहीं है, जो अप्रिय तथा अहितकारी है।

न दी हुई वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय कहा जाता है। धन मनुष्य का बाह्य प्राण है। उसको हरने से लोग मारे जाते हैं।

दिव्य तथा उदर की कामनाओं का कृत, अनुमत तथा कारित-तीनों प्रकार से मन, वाणी तथा शरीर से त्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है। यह १८ प्रकार का है।

सभी वस्तुओं की मूर्च्छा (इच्छा) का त्याग अपरिग्रह है, क्योंकि वस्तु के न होने पर भी केवल इच्छा से ही चित्त में विकार आ जाता है।

विशेष—प्रिय तथा सत्य वाणी को सूनृता कहते हैं। जो वाणी सत्य होकर भी अप्रिय है अथवा प्रिय होकर असत्य है उस वाणी का त्याग करना चाहिये। कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न बूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एव धर्मः सनातनः ।।

ब्रह्मचर्य १८ प्रकार का है। दिव्य का तात्पर्य है—भविष्य में प्राप्य। औदरिक का

तात्पर्य है—शरीर सुख के लिए होने वाली इच्छा। जो इच्छा स्वयं की जाती है उसे कृत कहते हैं तथा जो दूसरे के द्वारा करायी जाती है उसे कारित कहते हैं। जो इच्छा दूसरे ने की है, परन्तु उसे अनुमति प्रदान की जाती है वह अनुमत इच्छा है। इस कारण ब्रह्मचर्य के भेद हैं—

१. मन से दिव्य इच्छा का त्याग— कारित
२. ,, - कृत
३. ,, - अनुमत
४. मन से औदारिक इच्छा का त्याग- कारित
५. ,, ,, - कृत
६. ,, ,, - अनुमत
७. वचन से दिव्य इच्छा का त्याग- कारित
८. ,, ,, - कृत
९. ,, ,, - अनुमत
१०. वचन से औदारिक इच्छा का त्याग-कारित
११. ,, ,, - कृत
१२. ,, ,, - अनुमत
१३. शरीर से दिव्य इच्छा का त्याग- कारित
१४. ,, - कृत
१५. ,, - अनुमत
१६. शरीर से औदरिक इच्छा का त्याग-कारित
१७. ,, - कृत
१८. ,, - अनुमत

१७. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ

२७. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्यं पदम्।। इति।
भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च निरूपितम्—

२८. हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम्।।

इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकम्। यथा रसायनम्, तथा चात्र ज्ञानश्रद्धानाचरणानि सम्भूय फलं साधयन्ति, न प्रत्येकम्।

अनुवाद—इन पाँच भावनाओं से क्रमशः पाँच प्रकार के महाव्रत होते हैं , जो लोगों को अव्यय पद की सिद्धि कराते हैं।

पांचों भावनाओं का विवरण इस प्रकार बताया गया है—

हास्य, लोभ, भय, क्रोध को निरन्तर दूर करके विचारपूर्वक वाणी से सूनृत व्रत को धारण करना चाहिये।

ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र-तीनों मिलकर मोक्ष का कारण हैं, प्रत्येक अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार रसायन। उसी तरह यहाँ भी ज्ञान, श्रद्धा तथा आचरण मिलकर फल देते हैं, अलग-अलग नहीं।

विशेष—जिस प्रकार औषधि या रसायन खाने पर तभी फल मिलता है जब उस रसायन का सम्यक् ज्ञान हो, उसके प्रति सम्यक् श्रद्धा हो तथा उसे खाया जाए। उसी तरह मोक्ष में भी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण मिलकर कारण है।

अहिंसादि पांच ही पञ्चमहाव्रत हैं। इस प्रत्येक व्रत में पांच तरह की भावना की जाती है। प्रकृत में केवल सनृताव्रत में होने वाली पांचों भावनाओं का वर्णन श्लोक में किया गया है। इसी तरह अन्य चारों व्रतों में भी पाँच-पाँच भावनाएँ होने पर ये पांचों व्रत महाव्रत की कोटि में आ जाते हैं। सूनृता व्रत की ५ भावनायें हैं—

१. हास्य का त्याग, २. लोभ का त्याग, ३. भय का त्याग, ४. क्रोध का त्याग, ५. विचारपूर्वक बोलना।

१८. जैन तत्त्व-मीमांसा-दो तत्त्व

अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्तः। तत्र बोधात्मको जीवः। अबोधात्मस्त्वजीवः। तदुक्तं पद्मनन्दिना।

२९. **चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।**
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः।।

३०. **हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता।**
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्।। इति।।

अनुवाद—जैनमत में संक्षेप में जीव तथा अजीव नामक दो तत्त्व हैं। उसमें जीव ज्ञानरूप है तथा अजीव अज्ञानरूप है। जैसा कि पद्मनन्दी ने कहा है—

चित् और अचित्—ये दो परमतत्त्व हैं। उन दोनों को अलग-अलग करना ही विवेक है। कर्ता के उपादेयों को ग्रहण करना चाहिये तथा हेय का त्याग करना चाहिये।

कर्ता के रागादि दोष ही हेय हैं और उनका कार्य अविवेक है। परम ज्योति ही उपादेय है जिसका एकमात्र लक्षण है उपयोग।

विशेष—कर्ता का अर्थ है साधक। साधक को चाहिये कि वह परमज्योति अर्थात् (परम चित् या जीव तत्त्व) को ग्रहण करे तथा अजीव तत्त्व अर्थात् अचित् रागादि का त्याग कर दे। रागादि से ही अविवेक उत्पन्न होता है। परमज्योति या चित् तत्त्व का एकमात्र लक्षण है उपयोग। उपयोग का अर्थ आगे बताया गया है।

सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीव-साधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायोपश-मिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीव-स्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः—'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिमाणिकौ च' (त०सू० २।१) इति।

अनुवाद—स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणाम को स्वीकार करनेवाले ज्ञान और दर्शन को ही उपयोग कहा जाता है। वह उपयोग पारस्परिक प्रदेशों के बन्धन के कारण कर्म के साथ एकीभूत आत्मा के अन्योन्यत्व को (अर्थात् कर्म तथा आत्मा के अलग-अलग रूप को) जानने का कारण बनता है। सभी जीवों में सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य ही क्रमशः कर्म के उपशम तथा क्षय के कारण या क्रमशः क्षय तथा उपशम के कारण औपशमिक क्षयात्मक तथा क्षायोपशमिक भाव के द्वारा कर्म के उदय के कारण कालुष्य से भिन्नरूप धारण करके परिणत जीव की अवस्थाओं की विवक्षा होने पर जीवस्वरूप ही बनता है। जैसा कि वाचकाचार्य ने कहा है—"जीव के औपशमिक और क्षयिक भाव, मिश्रभाव तथा औदयिक और पारिणामिक भाव उसके अपने रूप हैं।"

विशेष—परमज्योति या चित् तत्त्व का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन)। जीवात्मा का प्रत्यक्ष और साकार परिणाम होने पर ज्ञान का उदय होता है तथा जीवात्मा का परोक्ष और निराकार परिणाम होने पर दर्शन (श्रद्धा) का उदय होता है।

आत्मा एवं कर्म भिन्न-भिन्न हैं—यह ज्ञान उपयोग से ही होता है। जीव के जो अवयव हैं, उन्हें ही प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश के साथ कभी-कभी कर्म का बन्धन होता है तो कभी कर्म प्रदेश से शिथिल रहता है। कर्म तथा जीव के प्रदेशों का मिश्रण ही बन्ध कहलाता है। आत्मा की मुक्ति तब तक नहीं होती, जब तक वह कर्म के बन्ध से मुक्त न हो जाए। कर्म के बन्ध से आत्मा की मुक्ति का उपाय है उपयोग।

चैतन्य सभी जीवों में सामान्यरूप से रहता है। कभी कर्म का उपशम होता है तो कभी क्षय होता है। उपशम के बाद क्षय होने पर औपशमिक क्षयात्मक अवस्था रहती है तथा क्षय के बाद उपशम होने पर क्षायोपशमिक अवस्था रहती है।

वाचकाचार्य ने तो किसी भाव की पांच अवस्थाएँ बतायी हैं—

१. उपशम—उपशम का अर्थ है दब जाना। जैसे कि फिटकिरी छोड़ने पर पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती है। यह उपशम भाव है। उसी तरह जब आत्मा में कर्त्ता किसी कारणवश दबा रहता है, तो वह जीव की उपशम-अवस्था है।

२. क्षय—किसी पदार्थ का आत्यन्तिक अभाव क्षय है। जब जल से गन्दगी का पूरी तरह से विनाश हो जाता है उसे ही क्षयावस्था कहा जाता है।

३. क्षयोपशम (मिश्रण) क्षय तथा उपशम का मिश्रण तीसरी अवस्था है। जैसे कुएँ के जल में कहीं गन्दगी रहती हैं तो कहीं पर नहीं रहती।

४. उदय—जब कर्मफल की प्राप्ति शुरु होती है, उसे उदयावस्था कहा जाता है। जैसे जल में कीचड़ का उत्पन्न होना।

५. परिणाम—चेतनता आदि का जो सहज भाव है वही पारिणामिक भाव है।

इन पांचों अवस्थाओं का वर्णन आगे किया गया है—

अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्यात्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकातिद्रव्यसम्बन्धादधः पतिते

जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मलतापादकः क्षायिको भावः) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलास्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः।।

अनुवाद—कर्म का अनुदय रूप उपशम होने पर जीव (आत्मा) की उत्पन्न होने वाली अवस्था औपशमिक है। जिस प्रकार कतकादि (फिटकिरी वगैरह) द्रव्यों के सम्बन्ध से गन्दा करने वाले कीचड़ के नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आती है। (जैनों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का अनुसन्धान करने पर रागादि=आसक्ति आदि कीचड़ को धो देने पर निर्मलता उत्पन्न करने वाला भाव क्षायिक है।) कर्म का क्षय होने पर उत्पन्न भाव क्षायिक है। जिस प्रकार कीचड़ से अलग हुए निर्मल स्फटिक आदि के पात्र के अन्दर जल की स्वच्छता रहती है, जैसे कि मोक्ष।

दोनों का मिश्रण ही मिश्र भाव है। जैसे-जल की आधी स्वच्छता। कर्म का उदय होने पर होने वाला भाव औदयिक है। कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा न रहने वाला चैतन्य का सहज भाव पारिणामिक है। यही भाव यथा सम्भव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप है—यही सूत्र का अर्थ है।

विशेष—जीव भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के होते हैं। जो जीव मोक्षप्राप्ति के इच्छुक हैं, वे भव्य जीव हैं तथा जो जीव मोक्षप्राप्ति के इच्छुक नहीं हैं, वे अभव्य जीव हैं। तदुक्तं स्वरूपसम्बोधने-

३१. ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः।। इति।

ननु भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेण अवस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तमिति चेत्—तदयुक्तम्। बाधे प्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्। न सोऽस्ति। समस्तेषु वस्तुष्वनेकान्तात्मकत्वस्य स्याद्वादिनो मते सुप्रसिद्धत्वादित्यलम्।

अनुवाद—स्वरूपसम्बोधन नामक ग्रन्थ में कहा गया है—जो ज्ञान से भिन्न नहीं है, न ही ज्ञान से अभिन्न है। वह किसी तरह से भिन्न तथा अभिन्न दोनों है। उसके पहले और बाद में ज्ञान है। वही आत्मा कहा गया है।

यदि कोई कहे कि भेद तथा अभेद एक-दूसरे का परिहार करके स्थित हैं, इसलिये उन दोनों में से एक ही वास्तविक है, दोनों का वास्तविक होना ठीक नहीं है। तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस बात के बाध में कोई प्रमाण नहीं है। किसी वस्तु का प्राप्त न होना बाधक प्रमाण है। यहाँ अप्राप्ति नहीं है। स्याद्वादी जैन के मत में सभी वस्तुओं में अनेकान्तात्मकता सुप्रसिद्ध है—इतना ही कहना पर्याप्त हो गया।

विशेष—भेद तथा अभेद परस्पर के विरोधी है। इसलिये आत्मा में या तो ज्ञान का भेद रह सकता है या ज्ञान का अभेद। इस प्रकार की शंका की जा सकती है। लेकिन इस शंका का समाधान है कि जैनमत में अनेकान्तवाद माना गया है। अनेकान्तवाद के अनुसार किसी भी वस्तु में दो विरुद्धधर्म रह सकते हैं। अतः अनेकान्तबाद मानने पर यह पूर्वोक्त शंका नहीं उठ सकती है।

११. दूसरा मत–पाँच तत्त्व

अपरे पुनर्जीवाजीवयोरपरं प्रपञ्चमाचक्षते जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलास्तिकायभेदात्। एतेषु पञ्चसु तत्त्वेषु कालत्रयसम्बन्धितया अस्तीति स्थितिव्यपदेशः। अनेकप्रदेशत्वेन शरीरवत्कायव्यपदेशः।

अनुवाद—अन्य दार्शनिक जीव तथा अजीव का दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं। जिसके अनुसार पांच प्रकार के अस्तिकाय हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म तथा पुद्गल। इस पांच तत्वों में तीन काल का सम्बन्ध होने से 'अस्ति' के द्वारा स्थिति का बोध होता है। अनेक प्रदेशों में रहने के कारण शरीर के समान 'काय' यह नाम है।

विशेष—जैन मत में द्रव्य के दो भेद हैं—अस्तिकाय और अनस्तिकाय (काल)। अस्तिकाय के दो भेद हैं—जीव तथा अजीव। अजीव के चार भेद हैं—आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल। इस प्रकार कुल मिलाकर अस्तिकाय के ५ भेद होते हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल। 'अस्तिकाय' में दो शब्द हैं—अस्ति तथा काय। अस्ति का अर्थ है—स्थिति तथा काय का अर्थ है—शरीर के समान व्यापक।

तत्र जीवा द्विविधाः, संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः—समनस्काः अमनस्काश्च। तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियाऽऽलापग्रहणरूपा संज्ञा। तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र द्वीन्द्रियादयः शङ्खगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

अनुवाद—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी तथा मुक्त। एक जन्म से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले संसारी हैं। वे दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। एक जन्म से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले संसारी हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। उनमें संज्ञा से युक्त जीव समनस्क हैं। शिक्षा, क्रिया तथा बातचीत को ग्रहण करना ही संज्ञा है। संज्ञा से रहित जीव अमनस्क है। अमनस्क भी दो प्रकार के हैं—त्रस तथा स्थावर। उसमें दो इन्द्रियवाले शङ्ख, गण्डोलक आदि चार प्रकार के त्रस हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति स्थावर हैं।

विशेष—जिनमें संज्ञा होती है उनको 'समनस्क' कहा जाता है। संज्ञा का अर्थ केवल नाम नहीं है, बल्कि जैनमतानुसार संज्ञा का तात्पर्य है, जिसमें शिक्षा, क्रिया तथा बातचीत का ग्रहण होता है, उन्हें संज्ञावान् या समनस्क कहा जाता है। जिसमें यह सब नहीं होता, वे अमनस्क हैं।

जो जीव उद्देश्यपूर्वक एकस्थान से दूसरे स्थान में जाने की शक्ति रखते हैं उन्हें

त्रस कहा जाता है। जो जीव ऐसी शक्ति नहीं रखते, उन्हें स्थावर कहते हैं। सामान्यतया त्रस का तात्पर्य जंगम है। साथ ही जैन मतानुसार उत्कृष्ट कर्म करने पर 'त्रस का जन्म मिलता है, लेकिन अशुभकर्म करने पर स्थावर का जन्म मिलता है। जैनमतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा पेड़-पौधे भी जीव हैं, लेकिन ये स्थावरकोटि में आते हैं। त्रस जीवों के चार प्रकार हैं–

१. **द्वीन्द्रिय**–केवल स्पर्शेन्द्रिय, और रसनेन्द्रिय वाले जीव द्वीन्द्रिय हैं। जैसे–शंख, सीपी, गण्डोलक आदि।

२. **त्रीन्द्रिय**–केवल स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, तथा घ्राणेन्द्रिय वाले जीव त्रीन्द्रिय हैं। जैसे-चींटी, जोंक आदि।

३. **चतुरिन्द्रिय**–स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय वाले जीव चतुरिन्द्रिय हैं। जैसे-मच्छर, भ्रमर आदि।

४. **पञ्चेन्द्रिय**–पाँचों ज्ञानेन्द्रिय चक्षु, रसन, घ्राण, श्रवण तथा स्पर्श वाले जीव पञ्चेन्द्रिय हैं। जैसे–मनुष्य आदि।

तत्र मार्गगतधूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथिवी कायत्वेन येन गृहीता सः पृथिवीकायिकः। पृथिवीं कायत्वेन यो ग्रहीष्यति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि भेदचतुष्टयं योज्यम्। तत्र पृथिव्यादि कायत्वेन गृहीतवन्तो ग्रहीष्यन्तश्च स्थावरा गृह्यन्ते न पृथिव्यादिपृथिवीकायादयः। तेषामजीवत्वात्। ते च स्थावराः स्पर्शनैकेन्द्रियाः। भवान्तरप्राप्तिविधुरा मुक्ताः।

अनुवाद—उसमें मार्ग की धूलि को पृथ्वी कहते हैं। ईंट आदि पृथ्वी काय (शरीर) हैं। पृथ्वी को काय के रूप में जिसने ग्रहण किया है, वह पृथिवीकायिक है। पृथ्वी को काय के रूप में जो ग्रहण करेगा, वह पृथ्वीजीव है। इसी तरह जल आदि चारों में भी चार-चार भेद लगाने चाहिये। पृथ्वी आदि को काय के रूप में ग्रहण कर रहे या जो ग्रहण करेंगे, वे ही जीव ही स्थावर के रूप में लिये जाते हैं, पृथ्वी आदि या पृथ्वी काय आदि को स्थावर नहीं कहा जाता। क्योंकि वे अजीव हैं। स्थावर जीवों में एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। जिन्हें दूसरे जन्म की प्राप्ति नहीं होती, उन्हें मुक्त कहा जाता है।

विशेष—स्थावर जीव पाँच तरह के होते हैं–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति। पृथ्वी के चार भेद हैं–पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव। इसी जल, तेज, वायु तथा वनस्पति के भी चार-चार भेद हैं–

जल–जल, जलकाय, जल कायिक, जलजीव
तेज–तेज, तेजकाय, तेजकायिक, तेजजीव
वायु–वायु, वायुकाय, वायुकायिक, वायुजीव
वनस्पति–वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक, वनस्पतिजीव

पृथ्वी आदि के इन चार-चार भेदों में पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव, जलकायिक, जलजीव, तेजकायिक, तेजजीव, वायुकायिक, वायुजीव, वनस्पतिकायिक तथा वनस्पतिजीव को स्थावर कहा जाता है। अन्य भेदों को स्थावर नहीं कहा जाता है।

धर्माधर्माकाशास्तिकायाः ते एकत्वशालिनो निष्क्रियाश्च द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतवः। तत्र धर्माधर्मौ प्रसिद्धौ। आलोकेनावच्छिन्ने नभसि लोकाकाशपदवेदनीये तयोः सर्वत्रावस्थितिः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। अत एव धर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः। अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

अनुवाद—धर्म, अधर्म और आकाश का अस्तिकाय एक तथा निष्क्रिय है और द्रव्य को अन्य देश में प्राप्ति का कारण है। उसमें धर्म और अधर्म तो प्रसिद्ध है। प्रकाश से घिरे आकाश में, जिसे "लोकाकाश" पद से कहा जाता है, वहाँ धर्म, अधर्म की सदा स्थिति है। गति और स्थिति के ग्रहण से धर्म और अधर्म का उपकार होता है। अतः धर्मास्तिकाय का अनुमान प्रवृत्ति (गति) को देखकर होता है। अधर्मास्तिकाय का अनुमान स्थिति को देखकर होता है। अन्य वस्तु के प्रदेश के मध्य में अन्य वस्तु का प्रवेश 'अवगाह' कहलाता है। यही आकाश का कार्य है।

विशेष—धर्म, अधर्म और आकाश के कारण द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। धर्म और अधर्म की स्थिति आकाश में ही होती है। धर्म का कार्य है प्रवृत्ति या गति। और अधर्म का कार्य स्थिति है। अतः प्रवृत्ति से धर्म का अनुमान होता है और स्थिति से अधर्म का अनुमान होता है।

आकाश दो प्रकार का है-लोकाकाश और आलोकाकाश। इनमें से लोकाकाश में ही धर्म और अधर्म रहते हैं।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (त०सू०५।२४)। ते च द्विविधाः- अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। तत्र द्व्यणुकादिस्कन्धभेदात् अण्वादिरुत्पद्यते। अण्वादिसङ्घाताद् द्व्यणुकादिरुत्पद्यते। क्वचिद् भेदसङ्घाताभ्यां स्कन्धोत्पत्तिः (त०सू०५।२६)। अत एव पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः।

अनुवाद—पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त होते हैं। वे दो प्रकार के हैं—अुण और स्कन्ध। जिनका उपभोग नहीं किया जा सकता, वे अणु कहे जाते हैं। द्वयणुक आदि स्कन्ध हैं। द्वयणुक आदि स्कन्धों का भेद करने पर अणु आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के संघात से द्वयणुक आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के संघात से द्वयणुक आदि उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी भेद एवं संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है (त० सू० ५/२६) अतः जो पूर्ण करे (संघाटित हो) या विगलित हो (भेद करे) उसे पुद्गल कहा जाता है।

विशेष—अणु के संघात से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्ध के भेद से अणु बनते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि संघात या भेद दोनों करने पर स्कन्ध की ही उत्पत्ति होती है।

जैनमतानुसार स्पर्श के ८ भेद हैं—कठोर, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष। रस के ५ भेद हैं—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। गन्ध के दो भेद हैं—सुरभि, असुरभि। वर्ण के ५ भेद हैं—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल।

२०. काल भी एक द्रव्य है

कालस्यानेकप्रदेशत्वाभावेन अस्तिकायत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वमस्ति। तल्लक्षणयोगात्। तदुक्तं-गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (त०सू०५।३८) इति। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (त०सू०५।३९)। यथा जीवस्य ज्ञानत्वादिधर्मरूपाः, पुद्गलस्य रूपत्वादिसामान्यस्वभावाः। धर्माधर्माकाशकालानां यथासम्भवं गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वादिसामान्यानि गुणाः।

तस्य द्रव्यस्योक्तरूपेण भवनं पर्यायः। उत्पादस्तद्भावः परिणामः पर्याय इति पर्यायाः। यथा जीवस्य घटादिज्ञानसुखक्लेशादयः। पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः। धर्मादीनां गत्यादिविशेषाः। अत एव षड् द्रव्याणीति प्रसिद्धिः।

अनुवाद—काल के अनेक प्रदेशों में स्थित न रहने पर भी आस्तिकाय न होने पर भी उसमें द्रव्यत्व है। क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का लक्षण है। जैसा कि कहा गया है– गुण तथा पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। (त० सू० ५/३८) द्रव्य में रहने वाला तथा स्वयं गुण से रहित गुण होता है। पुद्गल के रूपत्व आदि सामान्य स्वभाव हैं। धर्म, अमर्ध, आकाश और काल के यथा सम्भव गति, स्थिति, अवगाह, किसी विशेष अवस्था में रहने का कारण (वर्तनाहेतुत्व) आदि सामान्य गुण है।

द्रव्य का उपर्युक्त रूप से रहना ही पर्याय है। उत्पाद, तद्भाव, परिणाम और पर्याय–ये द्रव्य के पर्याय हैं। जैसे-जीव का पर्याय घट आदि का ज्ञान, सुख, क्लेश आदि है। पुद्गल का पर्याय मृत्पिण्ड, घर आदि हैं। धर्मादि के पर्याय गति आदि विशेष हैं। अतः द्रव्य ६ हैं यह प्रसिद्धि है।

विशेष—जैनमतानुसार द्रव्य के दो भेद हैं–अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय। जिसमें अस्तिकाय के ५ प्रकार हैं–जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल। अनस्तिकाय का एक ही रूप है, वह है काल। जीव का गुण ज्ञान है, पुद्गल का गुण रूपत्व है। आकाश का गुण अवगाह है। इसका स्वरूप पिछले परिच्छेद में बतलाया गया है (काल का गुण है-वर्तनाहेतुत्व) अर्थात् किसी वस्तु का किसी विशेष अवस्था में रहने का जो कारण है, वह काल है।

गुण तथा पर्याय जिसमें हो, वह द्रव्य है। पर्याय के भी चार रूप है–उत्पत्ति, तद्भाव (उस वस्तु की सत्ता) परिणाम और पर्याय।

न्याय दर्शन में पर्याय को ही कर्म कहा गया है। गुण भी दो तरह के हैं सामान्य गुण तथा विशेष गुण। विशेष गुण को ही धर्म भी कहते हैं। जिसके कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है, वह धर्म है। इस तरह कुल द्रव्य ६ माने गये हैं–जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

२१. तीसरा मत–सात तत्त्व

केचन सप्त तत्त्वानीति वर्णयन्ति। तदाह-जीवाजीवास्त्रवबन्धसम्वरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि (त०सू०१।४) इति। तत्र जीवाजीवौ निरूपितौ। आस्त्रवो निरूप्यते-औदारिकादिकायादिचलनद्वारेण आत्मनश्चलनं योगपदवेद-

नीयमास्रवः। यथा सलिलावगाहि द्वारं जलाद्यास्रवणकारणत्वादास्रव इति निगद्यते, तथा योगप्रणाडिकया कर्मास्रवतीति स योग आस्रवः।

अनुवाद—कुछ लोग ऐसा वर्णन करते हैं कि सात तत्त्व हैं। जैसा कि कहा गया है–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, मोक्ष-सात तत्त्व हैं। उसमें जीव और अजीव का निरूपण किया गया है। आस्रव का निरूपण किया जा रहा हैं। औदारिक आदि काय आदि कर्मों के चलने से आत्मा चलता होता है, यही आस्रव है, इसे ही योग पद से कहा जाता है। जिस प्रकार जल में डूबा हुआ छिद्र जल आदि के बहने का कारण बनने से आस्रव कहा जाता है, ठसी प्रकार योग के माध्यम से कर्म भी बह जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है वही योग आस्रव है।

विशेष—आत्मा के चलने का तात्पर्य है–कर्मों का आत्मा से संपर्क। काय के चलने का अर्थ है कायिक कर्म का चलना। काय का अर्थ है–शरीर। काय आदि का तात्पर्य है–काय, मन तथा वचन। कायिक, मानसिक और वाचिक कर्मों का आत्मा से संपर्क ही आस्रव है। काय के पाँच प्रकार है–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कर्मण।

१. **औदारिक**–'उदार' का अर्थ है–स्थूल शरीर तथा औदारिक का अर्थ है स्थूल शरीर से होने वाले कर्म।

२. **वैक्रियिक**–विक्रिया का अर्थ है लघु अर्थात् वैक्रियिक का तात्पर्य है अदृश्यमान शरीर से साध्य कर्म।

३. **आहारक**–वैक्रियिक से भी सूक्ष्म आहारक है।

४. **तैजस**–यह आहारक से भी सूक्ष्म है।

५. **कार्मण**–सबसे सूक्ष्म कार्मण है।

आस्रव के भी दो भेद हैं–शुभ, अशुभ। शुभ कर्मों का योग शुभ आस्रव है तथा अशुभ कर्मों का योग अशुभ आस्रव है।

यथार्द्रं वस्त्रं समन्ताद्वातानीतं रेणुजातमुपादत्ते, तथा कषायजलार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा निष्टप्तायः पिण्डो जले क्षिप्तोऽम्भः समन्ताद् गृह्णाति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते। कषति=हिनस्ति आत्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः, क्रोधो मानो माया लोभश्च।

अनुवाद—जिस प्रकार गीला कपड़ा चारों तरफ से हवा के द्वारा लाये गये धूल के समूह को ग्रहण करता है, उसी तरह कणाय रूपी जल से भींगा हुआ आत्मा योग के द्वारा लाये गये कर्म को सब स्थानों से ग्रहण करता है अथवा जिस प्रकार अत्यधिक तपा हुआ लोहे का गोला जल में फेंका जाने पर चारों ओर से जल को ग्रहण करता है, उसी तरह कषाय से तप्त आत्मा भी योग के द्वारा लाये गये कर्म को चारों ओर से ग्रहण करता है। जो कषण करे=मारे अर्थात् आत्मा को दुर्गति प्राप्त कराकर उसका हनन करे, वह कषाय है। क्रोध, अहंकार, माया और लोभ कषाय हैं।

विशेष—योग के तीन भेद हैं–काययोग (शरीर के विचलित होने से आत्मा का

चंचल होना), मनोयोग (मन के विचलित होने से आत्मा का चंचल होना), वचनयोग (वचन के विचलित होने से आत्मा का चंचल होना)। इन तीनों के शुभ, अशुभ दो प्रकार हैं।

सः द्विविधः शुभाशुभभेदात्। अत्राहिंसादिः शुभः काययोगः। सत्यं मितहितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुनामधेयपञ्च-परमेष्ठिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। एतद्विपरीतस्त्वशुभः त्रिविधो योगः।

तदेतदास्रवभेदप्रभेदजातं, 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य' (त०सू० ६।१-४) इत्यादिना सूत्रसन्दर्भेण ससंरम्भमभाणि।

अपरे त्वेवं मेनिरे-आस्रवयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिः विषयान्स्पृशद् रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति।

अनुवाद—वह योग दो प्रकार है–शुभ और अशुभ। उसमें अहिंसा आदि शुभ काय योग है। सत्य, सीमित और हित भाषण आदि शुभ वाग्योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु नामक पाँच परमेष्ठियों में भक्ति, तपस्या में रुचि, ज्ञान, विनम्रता आदि शुभ मनोयोग है। इसके विपरीत अशुभयोग भी तीन प्रकार का है।

इस आस्रव को भेद और प्रभेद के साथ वर्णन इस सूत्र में प्रयत्नपूर्वक किया गया है–"काय, वाणी और मन के कर्म का योग है। वही आस्रव है। पुण्य का शुभ (आस्रव) है। पाप का अशुभ (आस्रव) है।" (त० सू० ६, १-४)

दूसरे लोग ऐसा मानते हैं–जो इन्द्रिय प्रवृत्ति पुरुष को विषयों की ओर बहा ले जाती हैं, वह आस्रव है। इन्द्रिय के द्वारा ही पुरुषों की ज्योति विषयों का स्पर्श करते हुए रूपादि ज्ञान के रूप से परिणत हो जाती है।

२२. बन्ध का निरूपण

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायवशाद्योगवशाच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगा-हिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्धयोग्यानामादानमुपश्लेषणं यत्करोति स बन्धः। तदुक्तं-सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः (त०सू०८।२) इति।

अनुवाद—मिथ्या दर्शन, आसक्ति, प्रमाद तथा कषाय के कारण और योग के कारण आत्मा सूक्ष्म स्थानों में प्रवेश करने वाले तथा अनन्त प्रदेशों वाले, कर्म बन्धन के योग्य पुद्गलों का जो आदान अर्थात् आलिंगन करता है वही बन्धन है। जैसा कि कहा गया है—कषाय के साथ रहने के कारण जीव कर्मबन्धन के योग्य पुद्गलों का आदान करता है, वही बन्ध है। (त०सू० ८.२)

विशेष—कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग ही बन्धन है तथा पुद्गलों का आत्मा से वियोग ही मोक्ष है। बन्धन का कारण कषाय है।

२३. बन्धन के कारण

तत्र कषायग्रहणं सर्वबन्धनहेतूपलक्षणार्थम्। बन्धहेतून्पपाठ वाचकाचार्यः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (त०सू० ८।१) इति।

अनुवाद—यहाँ 'कषाय' का ग्रहण सभी बन्धन हेतुओं के उपलक्षण के लिए है। वाचकाचार्य ने बन्धन हेतुओं को पढ़ा है—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बन्धन के कारण हैं।

मिथ्यादर्शनं द्विविधं-मिथ्याकर्मोदयात्परोपदेशानपेक्षं तत्त्वाश्रद्धानं नैसर्गिकमेकम्। अपरं परोपदेशजम्। पृथिव्यादिषट्कोपादानं षडिन्द्रियासंयमनं चाविरतिः। पञ्चसमितित्रिगुप्तिष्वनुत्साहः प्रमादः। कषायः क्रोधादिः। तत्र कषायान्ताः स्थित्यनुभवबन्धहेतवः प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुर्योग इति विभागः।

अनुवाद—मिथ्या दर्शन दो प्रकार का है। मिथ्या कर्म का उदय होने से परोपदेश के बिना ही स्वाभाविक रूप में तत्त्व के प्रति श्रद्धा न रखना पहले प्रकार का मिथ्यादर्शन है। दूसरा परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन है। पृथ्वी आदि ६ पदार्थों का उपादान तथा ६ इन्द्रियों का संयमन न करना अविरति (आसक्ति) है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों में उत्साह रखना ही प्रमाद है। क्रोध आदि कषाय हैं। (वाचकाचार्य द्वारा कहे गये ५ बन्धनकारणों में) कणाय तक चार कारण स्थिति और अनुभव के बन्धन के हेतु हैं तथा योग प्रकृति और प्रदेश के बन्धन का हेतु है—यही दोनों में भेद है।

विशेष—पृथ्वी आदि ६ पदार्थों के उपादान का तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, स्थावर तथा जंगम इन ६ पुद्गल अस्तिकायों के साथ जीव का सम्पर्क। ६ इन्द्रियों का तात्पर्य है—पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और उत्सर्ग—ये पांच समितियाँ हैं तथा कामगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं।

स्थिति बन्ध, अनुभवबन्ध, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का वर्णन आगे किया जायेगा।

२४. बन्धन के भेद

बन्धश्चतुर्विध इत्युक्तं, प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशस्तद्विधयः (त० सू० ८।३) इति। यथा निम्बगुडादेस्तिक्तत्वमधुरत्वादिस्वभाव एवमावरणीयस्य ज्ञानदर्शनावरणत्वम् आदित्यप्रभाच्छादकाम्भोधरवत्प्रदीपप्रभातिरोधायक-कुम्भवच्च। सदसद्वेदनीयस्य सुखदुःखोत्पादकत्वमसिधारामधुलेहनवत्।

अनुवाद—बन्ध चार प्रकार का कहा गया है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभवबन्ध और प्रदेश बन्ध—ये उसके प्रकार है। (त०सू० ८.३) जिस प्रकार नीम, गुड़ आदि का तीतापन या मीठापन उनका स्वभाव है, उसी तरह ज्ञान और दर्शन को आवरण करना आवरणीय कर्म का स्वभाव है, जिस प्रकार कि मेघ सूर्य की प्रभा को ढकता है या कुम्भ दीपक की प्रभा को ढकता है। सत् और असत् के रूप में ज्ञेय पदार्थ क्रमशः तलवार की धारा और शहद के चाटने के समान सुख और दुःख को उत्पन्न करता है।

विशेष—बन्ध के इन चार भेदों में प्रथम प्रकृतिबन्ध के ८ भेद हैं—१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुं ६. नाम ७. गोत्र ८. अन्तराय। प्रस्तुत अनुच्छेद में तीन भेदों का वर्णन किया गया है। अन्य भेदों का वर्णन आगे किया गया है।

ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण गुड़ के मीठे स्वभाव के समान हैं।

दर्शने मोहनीयस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानकारित्वं दुर्जनसङ्गवत्। चारित्रे मोहनीयस्यासंयमहेतुत्वं मद्यमदवत्। आयुषो देहबन्धनकर्तृकं जलवत्। नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्। गोत्रस्योच्चनीचकारित्वं कुम्भकारवत्। दानादीनां विघ्ननिदानत्वमन्तरायस्य स्वभावः कोषाध्यक्षवत्।

सोऽयं प्रकृतिबन्धोऽष्टविधो द्रव्यकर्मावान्तरभेदमूलप्रकृतिवेदनीयः। तथावोचदुमास्वातिवाचकाचार्यः-आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः (त०सू० ८।४) इति।

तद्भेदं च समगृह्णात्पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्च-भेदा यथाक्रमम् (त०सू० ८/५) इति। एतच्च सर्वं विद्यानन्दादिभिर्विवृतमिति विस्तरभयान्न प्रस्तूयते।

अनुवाद—दर्शन में मोहनीय कर्म का स्वभाव है तात्पर्य के प्रति श्रद्धा न रखना जिस प्रकार दुर्जन सङ्ग होने पर तत्वार्थ के प्रति श्रद्धा नहीं होती। चरित्र में मोहनीय कर्म का स्वभाव है असंयम उत्पन्न करना, जैसे कि मदिरा के मद से असंयम उत्पन्न होता है। आयु का स्वभाव है शरीर को बन्धन करना जैसे जल शरीर को (तैरते समय) धारण करता है। नाम का स्वभाव है अनेक नामों को बनाना जैसे चित्रकार अनेक नामों को बनाता है। गोत्र (कुल) का स्वभाव है ऊँचा नीचा करना जैसे कुम्हार—छोटे-बड़े बर्तन बनाता है। अन्तराय (विघ्न) का स्वभाव है दान आदि में विघ्न उत्पन्न करना जैसे—कोषाध्यक्ष दानादि में विघ्न करता है (क्योंकि कोषाध्यक्ष=राजा के कोष को संचित रखना चाहता है)

यह प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है, इसे ही मूलबन्ध के नाम से जाना जाता है, द्रव्य (धर्माधर्मादि) के कर्म के कारण इसके अवान्तर भेद होते हैं। जैसा कि उमास्वाति वाचकाचार्य ने कहा है—पहले प्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—ये ८ भेद हैं। (त०सू० ८.४)

यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणामेतावन्तमनेहसं माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिस्तथा ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामादितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः (त०सू० ८।१४) इत्याद्युक्तकाला दुर्दान्तवत्स्वीयस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।

यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्त-प्रदेशानामात्म-प्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः।

अनुवाद—जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि का दूध एक निश्चित समय तक अपने मीठे स्वभाव के कारण खराब नहीं होता, उसी तरह मूल प्रकृति बन्धों में प्रथम तीन ज्ञानावरण आदि (अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय) का तथा अन्तराय का

करोड़ों करोड़ तीस सागर के समान परम स्थिति है। (त०सू० ८.१४) इस प्रकार से उक्त कालवाला मतवाले हाथी के समान अपने स्वभाव को न छोड़ना ही स्थितिबन्ध है।

जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूधों का तीव्र, मन्द आदि स्वभाव से अपना कार्य करने में विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों का अपना कार्य करने में विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है। कर्म के रूप में परिणत पुद्गलस्कन्ध, जो अनन्तानन्त स्थानों में रहते हैं उनका अपने स्थान में प्रवेश करना प्रदेशबन्ध है।

विशेष—स्थिति दो प्रकार की होती है—परा तथा अपरा। परा स्थिति बन्ध प्रत्येक प्रकृति का भिन्न-भिन्न होता है। आठों प्रकृतिबन्धों की परास्थिति भिन्न होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय प्रकृतिबन्धों की अवधि तीस सागरोपम=करोड़ों समय तक होती है। सागरोपम काल का एक माप है। यह एक बहुत बड़ी अवधि है। मोहनीय प्रकृतिबन्ध की अवधि ७० सागरोपम है। नाम तथा गोत्र प्रकृतिबन्ध की अवधि बीस सागरोपम है। आयु प्रकृतिबन्ध की अवधि ३३ सागरोपम है। दूसरी स्थिति अपरा है। जैसे वेदनीय प्रकृति की अपरा स्थिति १२ मुहूर्त है।

कर्म पुद्गलों का किसी कार्य को करने में जो विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वही अनुभव बन्ध है। पुद्गलों के अनेक अवयवों वाले जो स्कन्ध हैं, उनका अपने-अपने अवयवों में प्रवेश करना ही प्रदेश बन्ध है।

अब पांचवें पदार्थ संवर का वर्णन किया जा रहा है।

२५. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व–संवर

आस्रवनिरोधः संवरः। येनात्मनि प्रविशत्कर्म प्रतिषिध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः। संचारकारणयोगादात्मनो गोपनं गुप्तिः। सा त्रिविधा-कायवाङ्मनोनिग्रहभेदात्। प्राणिपीडापरिहारेण सम्यगयनं समितिः। सेर्या-भाषादिभिः पञ्चधा। प्रपञ्चितं च हेमचन्द्राचार्यैः—

३२. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्॥

३३. अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥

अनुवाद—आस्रव का निरोध ही संवर है। जिसके कारण आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्म को रोका जाता है, वह गुप्ति, समिति आदि संवर है। (कर्म पुद्गलों के) संचार के कारण आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है। वह तीन प्रकार की है—शरीर, वाणी और मन के निग्रह के भेद से। प्राणियों की पीड़ा का परिहार करते हुए अच्छी प्रकार से व्यवहार करना समिति है। वह समिति ईर्या, भाषा आदि के भेद से ५ प्रकार की है। जेसा कि हेमचन्द्राचार्य ने व्याख्या की है—

जिस मार्ग पर लोग चलते रहते हैं तया सूर्य की किरणें जिस मार्ग पर पड़ती रहती हैं, उस मार्ग पर प्राणियों की रक्षा करते हुए देखकर चलने को ही सज्जनों ने 'ईर्या' नामक समिति कहा है।

अनिन्दनीय, सत्य, सर्वजनप्रिय तथा सीमित भाषण एवं वाणी पर संयम रखने वालों का जो प्रिय वचन लगता है, वह भाषा समिति कहा जाता है।

विशेष—समिति और गुप्ति—दोनों ही संवर के अन्तर्गत आते हैं। जैन धर्म में समिति-गुप्ति पर विशेष बल दिया गया है।

३४. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम्।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता।

३५. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नतः।
गृह्णीयान्निक्षिपेद् ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृता।।

३६. कफमूत्रमलप्रायैर्निर्जन्तुजगतीतले।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत्।।

अत एव—

आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः।

इति निराहुः।

अनुवाद—भिक्षा के ४२ दोषों से नित्य अदूषित अन्न को जो मुनिग्रहण करता है, वह एषणा समिति कही गयी है।

आसन आदि को अच्छी प्रकार से देखकर, उस पर प्रयत्नपूर्वक बैठकर उसे ग्रहण करे, उस पर बैठे या उस पर ध्यान करे, वह आदान समिति कही गयी है।

जीव-जन्तु से रहित पृथ्वी पर जो साधु प्रयत्नपूर्वक कफ, मूत्र, तथा मल का त्याग करता है वह उत्सर्ग समिति कही गयी है।

इसीलिए कहा गया—

आस्रव स्रोतों का द्वार है, उसे जो ढँकता है वह संवर है।

तदुक्तमभियुक्तैः—

३७. आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।

अनुवाद—यही बात विद्वानों ने भी कही है—

आस्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है। यही जैनों की सृष्टि (कल्पना) है इसका विस्तार अन्यत्र किया गया है।

२६. *निर्जरा*

अर्जितस्य कर्मणस्तपः प्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम्। चिरकाल-प्रवृत्तकषायकलापं पुण्यं सुखदुःखे च देहेन जरयति नाशयति। केशोल्लुञ्चनादिकं तप उच्यते। सा निर्जरा द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्। तत्र प्रथमा यस्मिन्काले यत्कर्म फलप्रदत्वेनाभिमतं तस्मिन्नेव काले फलदानाद् भवन्ती निर्जरा कामादिपाकजेति च जेगीयते। यत्कर्म तपोवलात्स्वकामनयोदयावलिं प्रवेश्य प्रपद्यते सौपक्रमिकनिर्जरा। यदाह—

३८. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सम्मता द्वेधा सकामा कामनिर्जरा।।
३९. स्मृता सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम्।। इति।।

अनुवाद—अर्जित कर्म को तपस्या इत्यादि के द्वारा क्षीण करना ही निर्जरा है। यह निर्जरा बहुत समय से उत्पन्न कषाय समूह, पुण्य, सुख तथा दुःख को देह के द्वारा नष्ट करती है। केशों को उखाड़ना आदि तप कहा जाता है। वह निर्जरा दो प्रकार की है—यथाकाल और औपक्रमिक। उसमें पहली निर्जरा वह है कि जिस काल में जो कर्म फल प्रदान करने के रूप में स्वीकृत किया गया है, उसी काल में फल प्रदान करने से होने वाली निर्जरा पहली निर्जरा है यह कामना आदि फलों से उत्पन्न कही गयी है। जो कर्म तपोबल से अपनी कामना से उदयावस्था होने के बाद नष्ट कर दिया जाता है, वह औपक्रमिक निर्जरा है। जैसा कि कहा गया है—

संसार के बीजभूत कर्मों का विनाश होने से यह निर्जरा दो प्रकार की कही गयी है—सकामा और अकामा।

यम का पालन करने वाले व्यक्तियों की निर्जरा सकामा है और अन्य प्राणियों की निर्जरा अकामा है।

विशेष—निर्जरा के दो भेद है—**यथाकाल**—इसे ही अकामा भी कहते हैं। यह सामान्य प्राणियों की होती है। इस निर्जरा में कर्म यथा काल फल प्रदान कर नष्ट हो जाता है अत: यह निर्जरा फल से उत्पन्न मानी गयी है।

२. **औपक्रमिक**—इसे ही सकामा भी कहते हैं। यम का पालन करने वाले साधु अपनी तपस्या के बल से जब कर्म को फल प्रदान करते-करते ही नष्ट कर डालते हैं। वह निर्जरा औपक्रमिक है।

२७. मोक्ष का विचार

मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः। तदाहबन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः (त० सू० १०।२) इति। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् (त० सू० १०/५)

अनुवाद—मिथ्यादर्शन आदि बन्धन हेतुओं का निषेध करने पर तथा निर्जरा के कारण नये कर्मों के न होने से अर्जित कर्म का नाश हो जाने के कारण सदा के लिए कर्म की मुक्ति हो जाना ही मोक्ष है। जैसा कि कहा गया है—बन्धन हेतु का अभाव तथा निर्जरा के कारण समस्त कर्मों की मुक्ति हो जाना ही मोक्ष है। (त०सू० १०.२) उसके बाद लोकों का अन्त मिलने तक मुक्त व्यक्ति ऊपर जाता है। (त०सू० १०.५)

विशेष—निर्जरा ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। निर्जरा के द्वारा अर्जित कर्मों का नाश हो जाता है साथ ही संवर से नये कर्मों को रोका जाता है। मोक्ष मिलने पर मुक्त व्यक्ति तब तक ऊपर की ओर जाता है, जब तक उसे अन्तिम लोक नहीं मिल जाता।

यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रमुपरतेऽपि तस्मिंस्तद्वालादेवा-संस्कारक्षये भ्रमति, तथा भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्कृतं प्रणिधानं मुक्तस्य तदभावेऽपि पूर्वसंस्कारादालोकान्तं गमनमुपपद्यते। यथा वा मृत्तिकाले-पकृतगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतति, पुनरपेतमृत्तिकाबन्धमूर्ध्वं गच्छति, तथा कर्मरहित आत्मा असङ्गत्वादूर्ध्वं गच्छति। बन्धच्छेदादेर-ण्डबीजवच्चोर्ध्वं गतिस्व-भावाच्चाग्निशिखावत्।

अनुवाद—संसार कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष के पाप के कारण क्रिया की निवृत्ति हो जाना सम्यक् चरित्र है। अर्हत् ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—

निन्दित कर्मों का सर्वथा त्याग ही सम्यक् चरित्र है। वह अहिंसा आदि व्रत के भेद से पांच प्रकार का है। अहिंसा आदि के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।—जिस प्रकार हाथ या दण्ड आदि के घुमाने से प्रेरित कुम्हार का चक्र उस हाथ या दण्डादि की क्रिया के बन्द होने पर भी उसी के बल से संस्कार का क्षय न होने पर घूमता रहता है, उसी तरह संसार में स्थित आत्मा के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए बहुत बार जो योग किया गया है, मुक्त व्यक्ति उस योग के बिना ही पूर्व संस्कार के कारण लोकान्त तक चला जाता है यह बात उपपन्न होती है या जिस प्रकार मिट्टी का लेप करके भारी बनाया गया तुम्बी फल पानी में नीचे गिरता है और पुनः मिट्टी का बन्धन छूट जाने पर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्मरहित आत्मा सङ्ग न होने पर ऊपर की ओर जाता है। क्योंकि बन्धन का नाश होने पर रेड़ी के बीज की तरह ऊपर की ओर जाना ही स्वभाव है या जिस प्रकार अग्नि की शिखा (जवाला) का ऊपर की ओर जाना ही स्वभाव है।

अन्योन्यं प्रदेशानुप्रदेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः। परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। तदुक्तं, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च (त०सू० १०।६)। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखवच्च (त०सू० १०।७) इति। अत एव पठन्ति—

४०. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः ।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः ।। (प०न०) इति।।

अनुवाद—एक-दूसरे के प्रदेश में प्रवेश करने पर अविभक्त रूप में रहना ही बन्ध (बन्धन) है। एक-दूसरे की प्राप्ति मात्र होना ही सङ्ग है। जैसा कि कहा गया है—

पूर्व में प्रयोग होने से आसक्ति न होने से, बन्ध का नाश होने से तथा गति का परिणाम होने से। (त०सू० १०.६) घुमाये हुए कुम्हार के चक्के की तरह, मिट्टी का लेप छूटे हुए तुंबी फल की तरह, रेड़ी के बीज की तरह और आग की लपट की तरह। इसीलिये पढ़ते हैं—

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह जा जाकर लौट आते हैं, लेकिन लोकान्त के आकाश तक गये हुए लोग आज तक नहीं लौटे हैं। (प०न०)

विशेष—आत्मा और शरीर का अविभक्त रूप में रहना ही बन्धन है। तत्त्वार्थाधिगम सत्र में मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय बताये गये हैं—

१. पूर्वप्रयोग २. आसक्ति का नाश

३. बन्ध का नाम ४. गति का परिणाम

२८. संवर और निर्जरा को मिलाकर नौ तत्त्व

अन्ये तु गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरिदेशावस्थाने मुक्तिरित्यास्थिषत। एवमुक्तानि सुखदुःखसाधनाभ्यां पुण्य-पापाभ्यां सहितानि नव पदार्थान्केचनाङ्गीचक्रुः। तदुक्तं सिद्धान्ते जीवाजीवौ पुण्यापापयुतावास्रवः संवरो निर्जरणं बन्धो मोक्षश्च नव तत्त्वानीति। संग्रहे प्रवृत्ता वयमुपरताः स्मः।

अनुवाद—अन्य लोगों ने कहा है कि समस्त क्लेश तथा उनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर, आवरण ज्ञान के हट जाने पर, एकमात्र सुख से सम्पन्न आत्मा का ऊपर के देश में रहना ही मुक्ति है। इस प्रकार ऊपर कहे गये (७ पदार्थ) तथा सुख एवं दुःख के साधन पुण्य-पाप को मिलाकर कुछ लोगों ने नौ पदार्थ स्वीकार किये हैं। जैसा कि सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

जीव, अजीव, पुण्य तथा पाप से युक्त आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं।

जैन धर्म के पदार्थों का संग्रह करके अब हम विराम करते हैं।

विशेष—जैन मत में कोई ५ पदार्थ मानता है, कोई ७ तो कोई ९ तत्त्व मानता है।

२९. जैन न्यायशास्त्र-सप्तभङ्गीनय

अत्र सर्वत्र सप्तभङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति।

अनुवाद—इस जैन मत में सर्वत्र सप्तभङ्गीनय नामक न्याय को जैन लोग उपस्थापित करते हैं। (१) किसी तरह से है (२) किसी तरह से नहीं है (३) किसी तरह से है और नहीं है (४) किसी तरह से अवक्तव्य है (५) किसी तरह से है और अवक्तव्य है (६) किसी तरह से नहीं है और अवक्तव्य है (७) किसी तरह से है, नहीं है और अवक्तव्य है।

विशेष—जैन मत अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद का तात्पर्य है कि किसी पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप बतला पाना सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः किसी भी पदार्थ के विषय में पूर्णतः वर्णन करना सम्भव नहीं है। प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं प्रत्येक व्यक्ति वस्तु के एक ही पहलू को देख सकता है, अतः उसका ज्ञान एकांगी हो सकता है। इस अनेकान्तवाद का वर्णन सप्तभङ्गी नय के द्वारा किया जाता हैं। पूर्व में जैनमत के चौथे परिच्छेद की टीका में अनेकान्तवाद का वर्णन किया जा चुका है।

सप्तभङ्गी नय का अर्थ है—सात प्रकार के वचनविन्यासों (भङ्गी) का न्याय (नय)। किसी एक विशिष्ट पक्ष का ज्ञान ही नय का विषय है—

एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। —न्यायावतार २६

सप्तभङ्गीनय में प्रत्येक वाक्य के पहले 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् का अर्थ है—शायद, सम्भवत: किसी प्रकार से। यह 'स्यात्' शब्द सापेक्षता या अनेकान्तता का द्योतक है। 'स्यात्' शब्द लगाने पर जो वाक्य बनते हैं, उन्हें भङ्गी= वचनविन्यास कहा जाता है। ये सात प्रकार हैं। किसी भी वस्तु का वर्णन इन सात वाक्यों के द्वारा ही किया जा सकता है।

तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्—

४१. तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ।।

४२. क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ।।

४३. आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः ।।

४४. समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते। इति।

अनुवाद—इन सम्पूर्ण नयों का वर्णन अनन्तवीर्य ने किया है—

किसी वस्तु का विधान करने पर 'स्यात् अस्ति' यह गति (वचन) होती है। उसका निषेध करने की इच्छा होने पर 'स्यात् नास्ति' यह प्रयोग होगा। क्रमश: उन दोनों की इच्छा होने पर दोनों के समुदाय (स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति) का प्रयोग होता है। एक साथ उन दोनों की इच्छा होने पर कुछ भी कहना संभव न होने से "स्यात् अवक्तव्यम्' प्रयोग होगा। प्रथम भंग के अवक्तव्य की इच्छा होने पर पांचवां भंग होगा। अन्तिम (दूसरे) भंग के अवक्तव्य की इच्छा होने पर छठां भंग होगा। इन दोनों भंगों के साथ अवक्तव्य की इच्छा हाने पर सातवां भंग होता है।

विशेष—सप्तभंगीनय के सात प्रकार हैं—

१. स्यादस्ति—जैसे घट का विधान (सकारात्मक टिप्पणी) होने पर प्रयोग होगा—स्यात् घट: अस्ति।

२. स्यान्नास्ति—घट का निषेध करने पर (नकारात्मक टिप्पणी) प्रयोग होगा—स्यात् घटो नास्ति।

३. स्यादस्ति स्यान्नास्ति च—एक समय में घड़ा है, लेकिन अन्य समय में घड़ा नहीं है—इस प्रकार क्रमश: घड़े के विधान और निषेध की विवक्षा होने पर तीसरा नय बनता है।

४. स्यादवक्तव्य:—एक ही समय में घड़े के विधान तथा निषेध की विवक्षा होने पर "स्यादवक्तव्यो घट:" ही कहना पड़ता है।

५. स्यादस्ति चावक्तव्यः—प्रथम नय+चतुर्थ नय

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यः—द्वितीय नय+चतुर्थ नय

७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः=प्रथमनय+द्वितीय नय+चतुर्थनय।

स्याच्छन्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। यथोक्तम्—

४५. **वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।**
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः ।। इति।।

यदि पुनरेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दोऽयं स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथंचिदस्तीति स्यात्पदात्कथंचिदित्ययमर्थो लभ्यत इति नानर्थक्यम्। तदाह—

४६. **स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः।**
सप्तभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ।। इति।।

अनुवाद—यह 'स्यात्' शब्द निपात है तथा अनेकान्त (अनिश्चितता) को बतलाने वाला तिङन्त का प्रतिरूप है। कहा गया है—

वाक्यों में अनेकान्त को बतलाने वाला, गम्य अर्थात् विधेय का विशेषण, तिङन्त का प्रतिरूप तथा सार्थक निपात 'स्यात्' शब्द है। यदि स्यात् शब्द को एकान्तता का द्योतक माना जाए तो 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' पद बेकार हो जाएगा। अनेकान्त को बतलाने पर स्यादस्ति का अर्थ होगा—"कथंचिदस्ति" अतः स्यात् शब्द से 'कथञ्चित्' (किसी तरह) यह अर्थ प्राप्त होता है, अतः स्यात् पद अनर्थक नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

स्यात्वाद पूर्णतः एकान्त अर्थ का त्याग करने से 'किञ्चित्' शब्द का विधान करके, हेय तथा आदेय की विशेषता से युक्त होकर सप्तभङ्गीनय की अपेक्षा रखता है।

विशेष—'अस्' धातु के विधिलिङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'स्यात्' रूप बनता है, लेकिन प्रस्तुत सप्तभङ्गीनय में जो 'स्यात्' शब्द है, वह तिङन्त नहीं है, बल्कि निपात है। यह तिङन्त के समान ही दिखाई पड़ता है, किन्तु अव्यय है। इस स्यात् शब्द का अर्थ है—अनेकान्त। यदि स्यात् शब्द को तिङन्त विधिलिङ् प्र.पु.एक. माने तो 'स्यादस्ति' वाक्य निरर्थक हो जाएगा। अतः स्यात् शब्द को अनेकान्तार्थक अव्यय (निपात) ही माना जाता है।

यदि वस्त्वस्त्येकान्ततः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्माऽस्तीति नोपादित्साजिहासाभ्यां क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्ताप्रापणीयत्वादहेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चित्क्वचित्केनचित्सत्त्वेन हानोपादाने प्रेक्षावतामुपपद्येते।

अनुवाद—यदि कोई वस्तु हमेशा, हर जगह, हर प्रकार से निश्चित रूप से है तो फिर उस वस्तु को ग्रहण करने या त्याग करने की इच्छा से न तो कोई प्रवृत्त होगा और न ही कोई निवृत्त होगा। क्योंकि प्राप्त वस्तु की प्राप्यता नहीं हो सकती है और अहेय वस्तु के नाश की उपपत्ति भी नहीं लग सकती है। वस्तु को अनेकान्त (अनिश्चित) मानने

पर किसी प्रकार से, कहीं, किसी के होने से विद्वान् लोगों के द्वारा वस्तुओं का ग्रहण और त्याग करना भी उपपन्न हो जाता है।

विशेष—यदि वस्तु को अनेकान्त न माना जाए, तो न तो किसी वस्तु का त्याग किया जा सकेगा, न ही किसी वस्तु का ग्रहण किया जाएगा। ग्रहण तथा त्याग तभी सम्भव है जब वस्तु को अनेकान्त माना जाए।

किं च वस्तुनः सत्त्वं स्वभावः, असत्त्वं वा इत्यादि प्रष्टव्यम्। न तावदस्तित्वं वस्तुनः स्वभाव इति समस्ति। घटोऽस्तीत्यनयोः पर्यायतया युगपत्प्रयोगायोगात्। नास्तीति प्रयोगविरोधाच्च। एवमन्यत्रापि योज्यम्। यथोक्तम्—

४७. **घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।**
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् सदसत्त्वयोः ।। इत्यादि।।

अनुवाद—इसी तरह यह भी पूछना चाहिये कि वस्तु का स्वभाव सत्त्व है या असत्त्व है? अस्तित्व ही वस्तु का स्वभाव है—यह कहना ठीक नहीं है। 'घटोऽस्ति' (घड़ा है) इस वाक्य में (चूंकि घट का अर्थ अस्तित्व है अतः) घटः और अस्ति एक-दूसरे का पर्याय होने से उन दोनों का एक साथ प्रयोग सम्भव नहीं है। यदि 'घटः नास्ति' कहें तो भी घटः तथा नास्ति दोनों के प्रयोग का विरोध होगा। (क्योंकि घटः का अर्थ है—अस्तित्व और नास्ति का अर्थ है अनस्तित्व) इसी प्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये। जैसा कि कहा गया है—

'घटोऽस्ति' यही नहीं कहना चाहिये क्योंकि घड़ा ही सत् है। 'घटो नास्ति' यह भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सत् तथा असत् का परस्पर विरोध है।

तस्मादित्थं वक्तव्यम्—सदसत्सदसदनिर्वचनीयवादभेदेन प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः। पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन मिश्रितानि सदसदादिमतानीति त्रिविधाः। तान्प्रति किं वस्त्वस्तीत्यादि पर्यनुयोगे 'कथञ्चित्तदस्ति' इत्यादि प्रतिवचनसम्भवेन ते वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तस्तूष्णीमासत इति सम्पूर्णार्थविनिश्चायिनः स्याद्वादमङ्गीकुर्वतस्तत्र तत्र विजय इति सर्वमुपपन्नम्। यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमञ्जर्याम्—

४८. **अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।**
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ।।

४९. **न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि ।**
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ।। इति।।

अनुवाद—इसलिये यह कहना चाहिये—सत्, असत्, सदसत् तथा अनिर्वचनीय सिद्धान्त के भेद से प्रतिवादी चार प्रकार के हैं। फिर अनिर्वचनीय सिद्धान्त से युक्त सत्, असत् आदि (आदि पद से सदसत् मत लिया जायेगा) तीन प्रकार के मत हैं। वे लोग जब प्रश्न करते हैं कि "वस्तु कैसी है?" तो यह उत्तर सम्भावित होता है

निर्व्यावृत्ति का अर्थ है–अपुनरावृत्ति। उस परम पद को प्राप्त करने के बाद फिर से वहाँ से लौटना नहीं पड़ता है।

६०. **सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजाः।**
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः।।

६१. **लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः।**
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः।।

६२. **भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।**
प्राहुरेषामयं भेदो महाञ्श्वेताम्बरैः सह।। इति।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे आर्हतदर्शनम्।।

अनुवाद—रास्ते की धूल को हटाने वालों को साथ में रखने वाले, भिक्षा माँगने वाले, केशों से रहित, क्षमाशील तथा निःसङ्ग जैनसाधु श्वेताम्बर हैं।

केशों को उखाड़ने वाले, हाथों में मोरपंख लेने वाले, हाथ में पात्र धारण करने वाले तथा दाता के घर के ऊपर खाने वाले ये दूसरे प्रकार के जैनसाधु दिगम्बर हैं।

दिगम्बर साधु कहता है कि अकेले पुरुष को भोजन नहीं करना चाहिये तथा स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिलता है। यही इनका श्वेताम्बरों के साथ महान् भेद है।

विशेष—अकेले भोजन न करने का तात्पर्य है कि दूसरों को बाँटकर ही-भोजन करना चाहिये। कहा भी गया है—केवलाघो भवति केवलादी। इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुष का जन्म मिलने के बाद ही मोक्ष प्राप्त होता है–ऐसा दिगम्बर जैनों का मानना है।

।। इति जैन दर्शनम् ।।